आचार्य कौटिल्य की सामाजिक

एवम्

राजनीतिक अवधारणा

बु.वि.वि. झाँसी की पी-एच.डी. (राजनीति विज्ञान) उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध
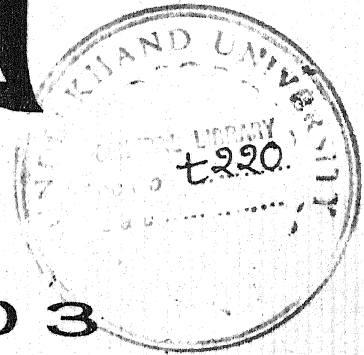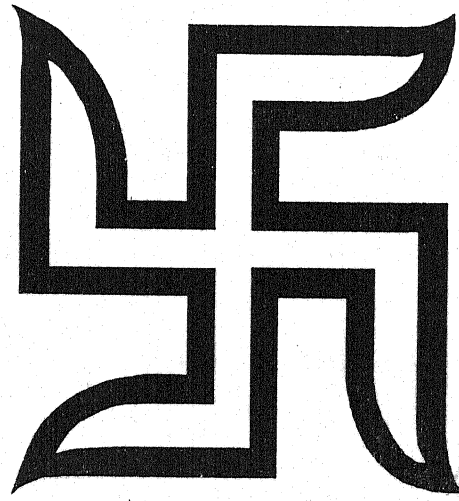
वर्ष-2003

शोध पर्यवेक्षकः-

डॉ. एस. के. कपूर

प्राचार्य एवं अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान-विभाग

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर

शोधार्थीः-

मनीषा मिश्रा

पुरानी बैलाई, मऊरानीपुर

(झाँसी) उ0प्र0

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर

(बुन्देलखण्ड विश्व विद्यालय)

डॉ. एस. के. कपूर
प्राचार्य एवं अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी) उ0 प्र0

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि मनीषा मिश्रा पुत्री डॉ. गदाधर त्रिपाठी ने "आचार्य कौटिल्य की सामाजिक एवं राजनैतिक अवधारणा" शीर्षक से राजनीति विज्ञान-विषय में पी-एच. डी. उपाधि-प्राप्ति हेतु मेरे निर्देशन में निर्धारित अवधि तक रहकर शोध कार्य किया है। इनका यह कार्य इनकी मौलिक कृति है जो इनकी शोध दृष्टि का परिचायक है।

मैं इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने की संस्तुति के साथ इनकी सफलता की कामना करता हूँ।

Skkapoor
(डॉ. एस. के. कपूर)
निर्देशक

जुलाई, 2003

PRINCIPAL
Shri Agrasen Mahavidhyalaya
Mauranipur (Jhansi)

प्राक् कथन

वर्तमान समय में हमारे जीवन को जितना अधिक राजनीति ने प्रभावित किया है, उतना अधिक अन्य किसी भी विचार धारा ने प्रभावित नहीं किया है। किन्तु इसी के साथ-साथ यह भी चिन्त्य है कि आज की राजनीति जितनी अधिक प्रदूषित होती जा रही है सम्भवत: ऐसा कभी नहीं हुआ है। इसलिए यह आवश्यक सा प्रतीत होने लगा है कि हमें इस राजनीति की विसंगतियों का अवलोकन करना चाहिए, जिससे अधिकतम मात्रा में समाज प्रभावित होता है और जो हमारे समाज के ह्रास का प्रमुख कारक बनती जा रही है। इस क्रम में हमें यह भी देखना चाहिए कि प्राचीन समाज में समाज की संरचना कास्वरूप क्या था और उस समय राजनीतिक अवस्था कैसी थी। यही विचार कर मैंने कौटिल्य के सामाजिक स्वरूप और उनकी राजनीतिक विचार परम्परा का अध्ययन करना चाहा है और इस क्रम में यह भी देखने का प्रयत्न किया है कि क्या प्राचीन भारत की सामाजिक और राजनीतिक विशेषताओं का अनुसरण करके आज की सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों को दूर किया जा सकता है? ऐसा करने में मुझे जो अनुभव हुआ, उसका उल्लेख इस शोध प्रबन्ध में किया गया हैं।

इस शोध प्रबन्ध के पूर्ण होने में और इस कार्य के करने में मुझे जो प्रेरणा और सहायता मेरे निर्देशक सम्मान्य प्रो. डॉ. एस.के. कपूर से मिली है, उसके लिए मैं शब्दों में आभार व्यक्त नहीं कर सकती । मेरी पूरी शिक्षा में उन्हीं का योगदान रहा है इसलिए वे मेरे लिए सदा अविस्मरणीय हैं। मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ।

प्रस्तुत शोध कार्य में सतत प्रवृत्त रखनें में पिता समान मेरे श्वसुर प्रो. डी. आर. मिश्र सेवानिवृत्त, विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र-विभाग, महामना मालवीय डिग्री कालेज, खेकड़ा बागपत का भी योगदान रहा, इसलिए मैं अपने उत्कर्ष के लिए उनके प्रति भी श्रद्धावनत हूँ।

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर की राजनीति विज्ञान-विभाग की प्राध्यापिका डॉ. नन्दिनी दुबे एवं डॉ. सन्तोष कुमार दुबे के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ जिनका अहैतुक सहयोग मुझे मिलता रहा।

प्रस्तुत शोध कार्य के प्रेरणा स्त्रोत हैं मेरे पूज्य पिता डॉ. गदाधर त्रिपाठी, रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत- विभाग, श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी) तथा मेरी स्नेहमयी माँ श्रीमती ममता त्रिपाठी जिनकी मैं लाड़ली बिटिया हूँ। इस कार्य की पूर्णता पर उनकी जो प्रसन्नता है उससे मैं अभिभूत हूँ तथा ईश्वर से सिर्फ यही कामना करती हूँ कि जन्म-जन्मान्तर तक मैं इनकी ही बेटी बनूँ।

मैं अध्यापन और अपने बच्चों के पालन-पोषण में जिस रूप में अति व्यस्त रही हूँ उसमें शोध कार्य जैसा कार्य करना कितना कठिन है, इसे कोई भुक्त भोगी ही जान सकता है।इसमें भावात्मक सहयोग मेरे जीवन-साथी श्री आशुतोष मिश्र, वरिष्ठ व्याख्याता, जवाहर नवोदय विद्यालय, भोगाँव, मैनपुरी ने जो सहयोग किया है, उसे मैं कभी नहीं भूल सकती। मेरी सफलता के लिए उनका यह भाव मेरे जीवन की श्रेष्ठतम थाती है।

मेरे लिए आदर्श रूप स्नेहिल भइया श्री विजय त्रिपाठी, व्यापार कर अधिकारी (उ.प्र.शासन)मेरे छोटे भाई डॉ. ऋतु राज त्रिपाठी तथा मेरी छोटी एवं परम लाड़ली बहन कु. पूर्णिमा त्रिपाठी तो मेरे विकास में रुचि रखते ही हैं, मेरी आदर्या भाभी श्रीमती अनुपमा त्रिपाठी एवं मेरे देवर श्री विश्वतोष मिश्रा भी मेरे उत्कर्ष के लिए चिन्तित हैं-

एतदर्थ मैं प्रसन्नता का अनुभव करती हूँ।

इस अवसर पर मेरे लिए बेटी जैसी कु. सुरक्षा तथा सीमा मिश्रा का स्मरण करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि मेरे दोनो शिशु इनकी वात्सल्यमयी छाया में पल रहें हैं और मैं शोध जैसे कार्यो में प्रवृत्त हो पा रही हूँ।

अन्त में मैं उन सभी विद्वद् जनों और मनीषियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जिनके विचारों तथा ग्रन्थों का आश्रय लेकर यह शोध प्रबन्ध पूरा हो सका।

इस शोध प्रबन्ध को टंकित कर इसे सुन्दर स्वरूप प्रदान करने में श्री लक्ष्मी कान्त गुप्ता (जय भारत प्रेस) का सहयोग सराहनीय है। मैं इन्हें भी धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ।

मनीषा मिश्रा

मनीषा मिश्रा

पुरानी बैलाई, मऊरानीपुर (झाँसी)

जुलाई- 2003

ग्रन्थ- संकेत सूची

कोष ग्रन्थ -

१. मा. हि. को.	मानक हिन्दी कोश हिन्दी साहित्य सम्मेलन
२. वाचस्यत्यम्	वाचस्यत्यम् भाग-६
३. वृ. हि. को.	वृहद् हिन्दी कोश
४. वै. को.	वैदिक कोश
५. वै. इ. (१)	वैदिक इण्डेक्स भाग (१)
६. वै. इ. (२)	वैदिक इण्डेक्स भाग (२)
७. श. क. (४)	शब्द कल्प द्रुम भाग ४
८. स. हि. को.	संस्कृत हिन्दी कोश
९. इ. सं. डि.	संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी
१०. सं. श. कौ.	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ

प्राचीन साहित्य- ग्रन्थ-

१. अथर्व	अथर्ववेद
२. अ.पु.	अग्नि पुराण
३. अ. शा.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्
४. ई. द्वा. उ.	ईशादिद्वादशोपनिषद्
५.ऋक्	ऋग्वेद
६. ऐ. आ.	ऐतरेयारण्यकोपनिषद्
७. ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राहमण
८. कठो.	कठोपनिषद्
९. का. श्रौ.	कात्यायन श्रौत सूत्र
१०. का. नी.	कामन्दकीयनीतिः
११. का.	काशिका
१२. कौ. अ.	कौटिलीय अर्थशास्त्र
१३. कौ.उ.	कौषीतकि उपनिषद्
१४. गौ.ध.सू.	गौतम धर्म सूत्र
१५. छा. उ.	छान्दोग्योपनिषद्
१६. जै. सू.	जैमिनिपूर्वमीमांसा सूत्र
१७. तै.उ.	तैत्तरीय उपनिषद्
१८. तै.सं.	तैत्तरीय संहिता

१९. तै.ब्रा.	तैत्तरीय ब्राहमण
२०. द.कु.च. (पू.)	दशकुमारचरितम्
२१. पं.तं.	पंचतन्त्रम्
२२. प.पु.	पदम् पुराण
२३. प.पु.	पदम् पुराण
२४. बृ.उ.	बृहदारण्यकोपनिषद्
२५. भ. गी.	श्री मद्‌भगवत्‌गीता
२६. भा.पु.	भागवत पुराण
२७. म.पु.	मत्स्य पुराण
२८. मत्स्य	मत्स्य पुराण
२९. म.भा.	महाभारत
३०. म. स्मृ.	मनुस्मृति
३१.मार्क.	मार्कण्डेय पुराण
३२. मु.उ.	मुण्डकोपनिषद्
३३. मै.सं.	मैत्रायणी संहिता
३४. शु. य.	यजुर्वेद संहिता
३५. या. स्मृ.	याज्ञवल्क्य स्मृति
३६. व्या. स्मृ.	व्यास स्मृति
३७. वा. रा.	वाल्मीकि रामायण
३८. वि. पु.	विष्णु पुराण

३९. वि. पुराण (१)	विष्णु पुराण
४०. वै.द.	वैशेषिक दर्शन
४१. शं.स्मृ.	शंख स्मृति
४२. श.ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
४३. शु.नी.	शुक्रनीति
४४. सि. कौ.	सिद्धान्त कौमुदी बाल मनोरमा (चतुर्थ भाग)

समीक्षात्मक-इतिहास-ग्रन्थ-

१. अ.रा.	अथर्ववेदे राजनीतिः
२. अ. भा. सं.	अरब और भारत के सम्बन्ध
३. आ. भा. रा. चि.	आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन
४. आ.रा.वि.इ.	आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास
५. इ. एण्टी.	इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द-८
६. उ.वै.स.सं.	उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति
७. उ.स.सं.	उपनिषत्कालीन समाज एवं संस्कृति
८. ए. इ.	एपिग्रैफिया इण्डिका जिल्द-१
९. ऐ. इ. ए.	ऐश्येंट इण्डियन एजूकेशन
१०. कल्याण	कल्याण हिन्दू संस्कृति अंक
११. क.जी.द.	कर्ण का जीवन दर्शन
१२. क.सी.जा.	जातक (हिन्दी अनुवाद)
१३. कौ.यु.द.	कौटिल्य का युद्धदर्शन
१४. कौ.अ.स.अ.	कौटिल्य का अर्थशास्त्र (समीक्षात्मक अध्ययन)
१५. जे.आर. ए. एस.	जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी-१९४१

१६. जा. भा. सं.	जातक कालीन भारतीय संस्कृति
१७. टै.ला.ले.	टैगोर ला लेक्चर्स एडाप्सन इनेहरिटेंस एण्ड पार्टीशन
१८. थ्योरी. स्टे.	थ्योरी आफ द स्टेटपुस्तक ५
१९. थ्यो. एन्सि.इ.	थ्योरी आफ गर्वन्मेण्ट इन एन्शियण्ट इण्डिया
२०. दी.प्रि.उ.	दी. प्रिंसिपल आफ उपनिषत्स्
२१. धर्म अं.	धर्मशास्त्राङ. (कल्याण वर्ष-७०)
२२. ध.शा.इ. (१)	धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)
२३. ध. शा.इ. (२)	धर्मशास्त्र का इतिहास (द्वि. भा.)
२४. प्रा. भा.	प्राचीन भारत
२५. प्रा.आ. शा.	प्रारम्भिक आचार शास्त्र
२६. प्रा.रा.न्या.	प्राचीन भारत राज्य और न्याय पालिका
२७. प्रा.रा.वि.सं.	प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ
२८.प्रा.भा.ज.	प्राचीन भारत में जनतन्त्र
२९. प्रा.भा.शा.	प्राचीन भारतीय शासन पद्धति
३०.पा.का.भा.	पाणिनिकालीन भारतवर्ष
३१.प्रा.भा.सा.सां.भू.	प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका
३२. भा.वि.	भारतीय विचार धारा

३३. भा.इ.रू.रे.	भारतीय इतिहास की रूपरेखा
३४. भा.नी.वि.	भारतीयनीति का विकास
३५. भा.सै.इ.	भारतीय सैन्य इतिहास
३६. म.कु.जा.	जातक (हिन्दी अनुवाद)
३७. मा.गां.सा.	मार्क्स और गान्धी का साम्य दर्शन
३८. मै.पा.प्र.	मैरिज पास्ट एण्ड प्रेजेंट
३९. यू. ए.	यूरोप एण्ड एशिया
४०. रा.शा.	राजनीति शास्त्र
४१. रा.दा.सि.	राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्त
४२. रा. वि.सि.	राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त
४३. स.वि.मू.त.	राजनीति विज्ञान के मूल तत्व
४४. वा.रा.रा.वि.	वाल्मीकि रामायण में राजनीतिक विचार
४५. वि.आ.इ.	विजन आफ इण्डिया
४६. वे.का.रा.व्य.	वेदकालीन राज व्यवस्था
४७. वै.सा.सं.द.	वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन
४८. सं.सा.रा.भा.	संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना
४९. स.शा.	समाज शास्त्र
५०. हि.हयू.मै.	हिस्ट्री आफहयूमन मैरिज, जिल्द (३)
५१. हि.ट्रा.का.	हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट
५२. हि.स.	हिन्दू सभ्यता

५३. हि.रा.शा.	हिन्दू राज्य शास्त्र
५४. हि.सो.आ.	हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन
५५. हि.पु.स.	हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता
५६. हि.रा.त.	हिन्दू राजतन्त्र
५७. हि. मै.	हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन
५८. ह्वेन.	ह्वेनसांग का भारत भ्रमण

अंग्रेजी के ग्रन्थ-

1. C.W.S.V.	TheComplete Works of Swami vivekanand
2. C.H.Vol I	The combridge history of india Vol. I
3. F.P.S.O.	Fundamentals of Political Seience and organnisation
4. H.F.	Hamilton and Falconers
5. H.P.	Hindu Polity
6. I.b.I.W.W.	Intercourse Between india and the Western World
7. I.H.U.	The ideal of Human Unitly
8. I.S.J.H.	Important Speeches of Jawaharlal Nehru
9. I.L.	International Law
10. J.R.A.S. (1915)	Janral of the royal Asiatic Soeicly of india (Great briain)
11. M.C.P.	Monifesto of Commuist Party Chapler 11.
12. O.I.H.P.	On india and Her Problems
13. P.T.A.I.	Political Theory in Ancient india
14. P.I.T.H.	The Political insiitulitions and Theories of Hindu
15. P.H.I.	Prehistoric india
16. P.I.I.M.	Political ideas and institutions in th Mahabhart
17. P.P.S.	Pricipal of political Seience

18. P.S.G.	Poltical Scince and Government
19. R.P.	The Ramayan Polity
20. Rep.	The Republic
21. S.G.A.I.	State and Government in Ancieant India
22. S.A.H.P.	Some Aspect of hindu Polity
23. S.A.A.I.C.	Some Aspects of Ancient indian culture
24. S.P.	Schoff-Periplus
25. T.F.P.	A Theory of Foreign Policy
26. The prince	The prince
27. T.G.A.I.	Theory of government in Ancient India
28. वा. (W)	Thomos on yuan chwanq's Travels in india, Vol I 2 II

प्रथम अध्याय

(सामाजिक संरचना का स्वरूप)

अर्थ एवं अर्थशास्त्र की महत्ता, अर्थशास्त्र का स्वरूप एवं विषय वस्तु, अर्थशास्त्र के प्राचीन सूत्र, कौटिल्य का समय, प्राचीन भारत की सामाजिक परिकल्पना, वर्ण व्यवस्था, वर्ण शब्द का अभिप्राय, वर्णों की वेदकालिक अवधारणा, उत्तरकालिक संकेत, ब्राह्मण की श्रेष्ठता, ब्राह्मणों के कर्तव्य, यज्ञ, दान, क्षत्रिय, वैश्य तथा उसके कर्म, शूद्र और शिल्प। आश्रमों के प्रारम्भिक संकेत, आश्रमों का अभिप्राय एवं संख्या, आश्रम और उनके कर्तव्य रूप धर्म, कौटिल्य एवं आश्रम व्यवस्था, परिवार व्यवस्था, पिता, पुत्र, पत्नी के अधिकार और कर्तव्य, विवाह-सम्बन्ध, स्त्री-धन, स्त्री तथा पुरुषों को पुनर्विवाह का अधिकार, पति-पत्नी का अतिचार और उसका प्रतिषेध, विद्या विचार, साधु स्वभावी की दिनचर्या, समीक्षा।

द्वितीय अध्याय

(सामाजिक व्यवहार तथा आर्थिक दृष्टि)

दास तथा दास का स्वरूप, पैतृक दाय का स्वरूप, पुत्रों के क्रम से उत्तराधिकार, ऋण का लेन-देन, धरोहर सम्बन्धी नियम, दास तथा श्रमिक का स्वरूप, मजदूरी तथा साझेदारी के नियम, क्रय-विक्रय एवं अग्रिम का नियम, कृषि और उसका स्वरूप, परिवहन व्यवस्था, व्यापार का स्वरूप, शिल्प कार्य तथा शिल्पियों का व्यवहार, व्यय और लाभ का विचार, व्यापारी और प्रजा, समीक्षा ।

तृतीय अध्याय

(राजा तथा राज्य की अवधारणा)

राजा की कल्पना, राजा के कर्तव्य, राज्य की अवधारणा, राजा की वैधानिक शक्तियाँ, पुरोहित तथा अमात्य, राजा और राजपुत्र, मन्त्रिपरिषद्, राज्य का प्राचीन स्वरूप, जनपद, नगर, राष्ट्र, राज्य और राष्ट्र, राष्ट्र की अधुनातन परिकल्पना, कौटिल्य की दृष्टि में राजा और राज्य, समीक्षा तथा निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय
(राजा और उसकी राजनीतिक दृष्टि)

राजा और राजनीति, राज्यकर्मचारी और उनकी शक्तियाँ, प्रशासन तथा न्याय, न्यायाधिकारियों की शक्तियाँ, न्याय और दण्ड, गुप्तचरों का प्रयोग, राजा के परराष्ट्र संबंधी नियम, साम, दाम, दण्ड और भेद नीति का प्रयोग, शत्रु राजा पर आक्रमण, पराजित राज्य की प्रजा के प्रति व्यवहार, सन्धि और सन्धि-नियम, शत्रु वध के प्रयोग।

पंचम अध्याय
(शिक्षा, धर्म तथा राजनीति)

शिक्षा का स्वरूप, राजा की शिक्षा, प्रजा की शिक्षा, शिक्षा और समाज, धर्म और उसका प्राचीन स्वरूप, धर्म की कौटिल्य दृष्टि, राजा का धर्म, प्रजा का धर्म, धर्म और समाज, धर्म तथा मनुष्य जीवन की शुचिता, राजनीति और धर्म, धर्म से संचालित राजनीति, धर्महीन राजनीति के सन्दर्भ, शिक्षा और राजनीति, कौटिल्य की समेकित दृष्टि।

षष्ट अध्याय
(वर्तमानकालिक सामाजिक एवं राजनैतिक अवधारणाओं का समीक्षात्मक स्वरूप)

प्राचीन भारतीय समाज का स्वरूप, कौटिल्य कालिक समाज, वर्तमान कालिक समाज, प्राचीन एवं वर्तमान समाज, में साम्य वैषभ्य, प्राचीन समाज और शिक्षा, तत्कालीन धर्म की अवधारणा, राज्य और धर्म, वर्तमान समय में धर्म निरपेक्षता, राजा तथा राज्य की प्राचीन अवधारणा के संकेत, वर्तमान शासकों के साथ साम्य-वैषभ्य, कौटिल्य कालिक राजनीति का परिप्रेक्ष्य, समीक्षा एवं निष्कर्ष।

प्रथम अध्याय

(सामाजिक संरचना का स्वरूप)

प्रथम अध्याय

(सामाजिक संरचना का स्वरूप)

अर्थ एवं अर्थशास्त्र की महत्ता, अर्थशास्त्र का स्वरूप एवं विषय वस्तु, अर्थशास्त्र के प्राचीन सूत्र, कौटिल्य का समय, प्राचीन भारत की सामाजिक परिकल्पना, वर्ण व्यवस्था, वर्ण शब्द का अभिप्राय, वर्णों की वेदकालिक अवधारणा, उत्तरकालिक संकेत, ब्राह्मण की श्रेष्ठता, ब्राह्मणों के कर्तव्य, यज्ञ, दान, क्षत्रिय, वैश्य तथा उसके कर्म, शूद्र और शिल्प। आश्रमों के प्रारम्भिक संकेत, आश्रमों का अभिप्राय एवं संख्या, आश्रम और उनके कर्तव्य रूप धर्म, कौटिल्य एवं आश्रम व्यवस्था, परिवार व्यवस्था, पिता, पुत्र, पत्नी के अधिकार और कर्तव्य, विवाह-सम्बन्ध, स्त्री-धन, स्त्री तथा पुरुषों को पुनर्विवाह का अधिकार, पति-पत्नी का अतिचार और उसका प्रतिषेध, विद्या विचार, साधु स्वभावी की दिनचर्या, समीक्षा।

प्रथम अध्याय

(सामाजिक संरचना का स्वरूप)

भारत की प्राचीन परम्परा का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि यहाँ वेदकाल से ही व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया जाता रहा है और उसी का ध्यान करके यह विचार किया जाता रहा है कि यह व्यक्ति इस संसार में कहाँ से आया है, कहाँ इसे जाना है, इसके यहाँ आने का अभिप्राय क्या है और इसे यहाँ क्या पाना है? इस सबके उत्तर में जो कहा गया, उसमें यह प्रकट हुआ कि अन्य सभी समाधानों के साथ व्यक्ति को इस जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करनी है और यही व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य भी है।

अर्थ एवं अर्थशास्त्र की महत्ता-

पुरुषार्थों की परिकल्पना में जो क्रम दिया गया है वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के क्रम से कहा गया हैं। उस रूप में यह विचार देखने को मिलता है कि इन पुरुषार्थों में धर्म पहले है और मोक्ष बाद में। इसका अभिप्राय यह है कि इन दोनों अर्थात् धर्म और मोक्ष के बीच में अर्थ और काम है। अर्थ यदि धर्म मूलक है किन्तु मुक्ति साधक नहीं है तो वह अनर्थ हो जाता है इसी तरह से काम यदि धर्ममूलक और मुक्ति का साधक नहीं है तो वह अनर्थकारी है। इसलिए यह कहा जाता है कि अर्थ और काम का अधिष्ठान यदि धर्म में हो तो वह मोक्ष का साधक बन जाता है।

आचार्य कौटिल्य ने त्रिवर्ग की चर्चा की है जिसमें धर्म, अर्थ और काम का संकेत किया गया है तथा इसे मनुष्य के लिए आवश्यक कहा है। वे इसके सन्तुलित उपयोग के लिए निर्देश देते हैं और इसे ही उचित मानते हैं[२]।

---

१. कल्याण, पृ० ३८१; प्रा० आ०, शा०, पृ० २५६

२. कौ०अ०, पृ० २४

अर्थ की महत्ता का प्रतिपादन करने में आचार्य कौटिल्य की एक दृष्टि यह है जिसमें वे त्रिवर्ग में धर्म को प्रथम न मानकर अर्थ को प्रथम मानते हैं। इसके लिए वे यह अभिमत देते हैं कि धर्म, अर्थ और काम में अर्थ प्रधान है। धर्म और काम अर्थ पर निर्भर हैं[१]। आचार्य कौटिल्य ने इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यह लिखा कि सुख का मूल धर्म है किन्तु धर्म का मूल अर्थ है[२]। वे धर्म को महत्त्व देते हुए भी यह लिखते हैं कि अर्थ की प्राप्ति व्यवहार मूलक है अर्थात् अर्थ प्राप्ति से ही व्यवहार संचालित होता है। धर्म के साथ सभी कार्य अर्थ से साधित हैं इसलिए कार्य भी अर्थ मूलक ही जानना चाहिए[३]। कौटिल्य कहते हैं कि अर्थ का ग्रहण इस प्रकार से करना चाहिए जैसे कोई मछली पकड़ने वाला बड़ी ही सावधानी और एकाग्रभाव से मछली पकड़ता है[४]। अर्थ की प्राप्ति के लिए स्वयम् को ऐसा जानना चाहिए जैसे कि मैं अमर हूँ क्योंकि अर्थवान् व्यक्ति ही सभी के लिए मान्य होता है। अर्थहीन इन्द्र को भी कोई मान्यता नहीं देता और पुरुष की दरिद्रता उसकी मृत अवस्था जैसी है[५]।

अर्थ और अर्थशास्त्र की परिभाषा भी कौटिल्य अपने मत से व्यक्त करते हैं। वे एक स्थान पर मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहते हैं और दूसरी परिभाषा में वे मनुष्यों से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं। और इस तरह से भूमि को प्राप्त करने तथा उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाले शास्त्र को अर्थशास्त्र कहा गया है[६]।

---

१. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति। कौ०अ०, पृ०२४; ७७४
२. सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः। वही, पृ०६४७
३. वही, पृ० ६५२
४. वही, पृ० ६५६
५. वही, पृ० ६६३
६. वही, पृ० ६३७

आचार्य ने अपना ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र प्रारम्भ करते हुए यह भी लिखा है कि पृथिवी के लाभ और पालन के लिए पूर्वाचार्यों ने जो ग्रन्थ लिखे हैं उनका सार संकलन करके यह ग्रन्थ लिखा गया है[१]।

आचार्य कौटिल्य जब अर्थ की परिभाषा में उसे वृत्ति (जीविका) लिखते हैं तो एक विद्वान् इसका अर्थ अस्तित्व अथवा जनसंख्या भी कहते हैं[२]। एक दूसरे विद्वान् अस्तित्व और जनसंख्या से इतर वृत्ति का अर्थ वार्ता करते हैं जिसमें कृषि, पशुपालन और वाणिज्य आते हैं[३]। एक विद्वान् की यह मान्यता है कि अर्थ का सम्बन्ध वार्ता से तो है किन्तु मानव निवसित क्षेत्र के अर्थ में अर्थ का सम्बन्ध दण्डनीति से है।

अर्थशास्त्र को दण्डनीति महाभारत में कहा गया है और इसे राजधर्म से जोड़ दिया गया है[५]। कौटिल्य भी जब यथोचित दण्ड की व्याख्या करते हैं तो वे भी इससे सहमत दिखाई देते हैं[६]। महाभारत में तो यहाँ तक कहा गया है कि विना दण्डनीति के सारा का सारा विश्व अपने सम्बन्ध तोड़ लेगा[७]।

स्मृतियों में मनु के टीकाकार मेघातिथि ने दण्डनीति की व्याख्या में चाणक्य तथा अन्य विद्वानों को इसका प्रणेता बताया है[८]। याज्ञवल्क्य की टीका मिताक्षरा में दण्डनीति को अर्थशास्त्र के अर्थ में उद्धृत किया गया है[९] जबकि शुक्र नीति में दण्डनीति को राजाओं के नियम-अनुशासन आदि के सन्दर्भ में कहा गया है[१०]। इस रूप में यह कहना सम्भव है कि अर्थशास्त्र जहाँ अर्थ से जुड़ा शास्त्र है, वहीं यह दण्डनीति के लिए भी कहा गया है।

---

१. कौ०अ०,पृ० १
२. H.P., पृ० ५
३. कौ०अ०स०अ०, पृ० ४६
४. S.P.H.P., P., १२-१३
५. म०मा०शां०प० ५६/७६; ६३/२८
६. कौ०अ०, पृ० १६
७. म०भा०शां० प० १५/२६; ६३/२८
८. म०स्मृ० ७/४३ पर टीका
९. या०स्मृ०, पृ० १४० मिता०
१०. शु०नी० ४/३/२५

अर्थ और दण्डनीति के सम्बन्ध में अन्य कुछ भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् अनेक प्रकार से अपने मत देते हैं। इन विविध मतों पर दृष्टिपात करने पर हम यह देखते हैं कि इनकी संख्या अनन्त है और इसीलिए एक विद्वान् ने यहाँ तक लिख दिया है कि राजनैतिक अर्थशास्त्र ने परिभाषाओं से अपना गला घोंट लिया है[१]। जबकि प्रो० मार्शल कहते हैं कि राजनैतिक अर्थशास्त्र या अर्थशास्त्र मानव जीवन के सामान्य व्यवसाय का अध्ययन है[२]। एडम स्मिथ ने अर्थशास्त्र का सम्बन्ध राष्ट्रों के धन की प्रकृति एवं उत्पत्ति के सम्बन्ध के साथ जोड़ा है[३]। एक विद्वान् जान स्पेलमेन अर्थशास्त्र को दण्डनीति के साथ सम्बद्ध करके यह लिखते हैं कि यह प्राचीन समय में एक महत्त्वपूर्ण नीति थी[४]।

अर्थ और अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में मार्क्स और गान्धी के सिद्वान्त भी जानने योग्य हैं। मार्क्स का यह कथन है कि समाज के सुख का स्थापन प्रधानत: अर्थ क्षेत्र के संशोधन पर ही निर्भर है[५]। वे यह मत देते हैं कि कृषि के साथ शिल्प निर्माणक उद्योगों का योग करना, ग्रामीण भूमि पर मनुष्य संख्या से वितरण अर्थशास्त्र का क्षेत्र है[६]।

महात्मा गान्धी का आर्थिक दृष्टिकोण समाज की सुख और सम्पन्नता पर आधारित है। वे 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और सम्पत्ति का सर्व समाज में वितरण होने के लिए पर्याप्त सम्पत्ति की कामना करते हैं। इसके लिए उत्पादन और सभी के काम मिलने की उनकी अवधारणा है[७]।

---

१. **Political economy is said to have strangled itself with definitions.**
व्य०अर्थ०,पृ० ५ पर उद्‌धृत प्रो० जे०एन० केन्स का मत।
२. वही, पृ० ७ पर उद्‌धृत ३. वही, पृ० ६ पर उद्‌धृत
४. **P.Th. A.I., P. 107** ५. मा०गा०सा०द०,पृ० ३८१
६. **Comleination of agriculture.....population over the country. M.C.P., 71**
७. मा०भा० सा०द०, पृ० ४६२

अर्थशास्त्र का स्वरूप और विषय वस्तु

आचार्य कौटिल्य द्वारा लिखित कौटिलीय अर्थशास्त्र आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विचारों का एक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ है जिसकी तुलना अन्य ग्रन्थ से नहीं की जा सकती है। यह ग्रन्थ बहुत ही विस्तार से लिखा गया है और इसमें एक विशेष प्रकार की क्रमबद्धता भी है। यह अर्थशास्त्र के प्रत्येक पक्ष का विचार विस्तार से करता है और यही इसकी शैली की एक विशेषता भी है। इस ग्रन्थ में राज्य के प्रशासन, राजा, मन्त्रियों तथा सरकारी कर्मचारियों के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। इस पुस्तक में गाँव, शहर, सरकारी न्यायालय के विस्तृत वर्णन के साथ-साथ स्त्री के अधिकारों, बृद्ध तथा निराश्रितों के पालन-पोषण, विवाह, तलाक, राजधन, थल सेना, नौ सेना, कूटनीति, कृषि तथा अन्य व्यवसाय आदि के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा गया है। इस ग्रन्थ में कल्याणकारी राज्य के लिए विशिष्ट व्यवस्थाएँ और नियम दिए गए हैं। वे अर्थ को महत्त्व तो अवश्य देते हैं किन्तु उसे धर्म से भिन्न मानकर राज्य के कल्याण के लिए अर्थ को साधन मानते हैं।

आचार्य कौटिल्य ने इस ग्रन्थ को पन्दरह अधिकरणों में विभक्त किया है, इसमें से पाँच अधिकरण राज्य के आन्तरिक प्रशासन से सम्बन्धित हैं, जिसमें राजा के प्रशिक्षण, मन्त्रियों और पदाधिकारियों की नियुक्ति, शासक की दिनचर्या आदि का विवरण है। इन अधिकरणों में भूमि का बन्दोवस्त, विधि और न्याय की व्यवस्था, अपराध को नियन्त्रित करने की विवेचना, राज्य के आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में लिखा गया है। इसमें यह भी संकेत है कि राज्य में प्रतिष्ठित पद धारण करने वाले व्यक्ति किस प्रकार श्रमशील और निष्ठावान होवें।

इस ग्रन्थ का छठा अधिकरण अपेक्षाकृत संक्षिप्त अधिकरण है। इसमें राज्य की सात प्रकृतियों को आदर्श बनाने की चर्चा है। सातवें और आठवें अधिकरण में विदेश नीति और व्यसनों का संकेत कर उनके प्रकुपित स्वरूप की चर्चा है। नवें और दसवें अधिकरण का सम्बन्ध सेना और युद्ध की व्यवस्था से है। इसमें यह बताया गया है कि शत्रु पर आक्रमण के लिए कितनी सेना हो और आक्रमण की रणनीति कैसी हो। ग्यारहवें अधिकरण में यह निर्देश है कि विजेता राजा किस प्रकार से विजित को अपने में मिलावे। बारहवें अधिकरण में यह विवेचन है कि कमजोर राजा अपना बचाव किस प्रकार करे। तेरहवें अधिकरण की विषय वस्तु में यह विवेचन किया गया है कि दुश्मन की किलाधिष्ठित राजधानी को युद्ध और बुद्धि द्वारा जीतकर किस प्रकार विजयी राजा अपने अधीन करे।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के चौदहवें अधिकरण के अन्तर्गत गुप्तचर्यायों का वर्णन है और यह संकेत है कि किस प्रकार से शत्रु तथा धोखे बाजों से छुटकारा पाया जाए। पन्दरहवाँ अधिकरण बत्तीस तन्त्र युक्तियों को परिगणित कर उनके उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसके अन्तर्गत यह विवेचन भी है कि प्रजा आदि विषय के साथ मिलकर किस प्रकार से व्यवहार किया जाएं।

इसी प्रकार से अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में विषय सूची दी गई है, जिसमें अर्थशास्त्र में वर्णित विषय वस्तु का उल्लेख है और अन्त में सूक्ति-वाक्य दिए गये हैं, जिनसे कौटिल्य का वैदुष्य और उनका गम्भीर चिन्तन प्रकट है। इस रूप में यह देखा जा सकता है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र जिन विषयों का वर्णन करता है वे सभी पूरी तरह से इस ग्रन्थ में समाहित हैं।

अर्थशास्त्र के प्राचीन सूत्र

आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र के अन्त में प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की हजारों वर्ष पूर्व की चिन्तन परम्परा का उल्लेख करते हुए यह लिखा है कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रकारों के मतभेदों को देखकर मैंने इस अर्थशास्त्र के सूत्रों और भाष्य का निर्माण किया[१]।

किन्तु अर्थ विषयक विचार प्रारम्भ काल से ही हम इस रूप में देख सकते हैं जिस रूप में ऋग्वेद में यह कहा गया था कि हे देव! हमें चेतना दो, हमारे यहाँ रोग न रहें, हमारी आवश्यकता के अनुसार हमें धन दो, हमारे पशु और हम सुखी रहें[२]। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण यह कहता है कि हे मित्रवरुण! तुम द्यावा पृथिवी पर धन और अन्न प्रदान करते हो, जल से परिपूर्ण यह बुद्धि तुम्हारी आश्रित है। हे पृथिवी! हमको अन्न, पशु, धन आदि प्रदान करो जिससे हम प्रसन्नता देंने वाले सोम को प्राप्त कर सकें[३]।

आचार्य कौटिल्य ने मनुस्मृति के रचनाकार मनु को स्पष्ट रूप से स्मृत किया है। शतपथ ब्राह्मण में जल प्लावन की एक कथा आती है जिसमें सारी पृथिवी जल मग्न हो जाती है। केवल मनु ही सृष्टि निर्माण के लिए शेष रह जाते हैं[४]। इन्हें ही सृष्टि को नए रूप में स्थापित करने वाला और अर्थव्यवस्थापक सम्राट के रूप में जाना जाता है। मनु ने प्रजा की रक्षा के लिए ईश्वर रूप में राजा की कल्पना की और अर्थ संग्रह की व्यवस्था बताई। मनु के इन्हीं विचारों से सहमत और प्रभावित होकर आचार्य कौटिल्य ने पृथिवी को अर्थ प्राप्ति और उद्योग का मूल माना[५]।

---

१. पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रम् कृतम्। कौ० अ०, पृ० १

२. ऋक् ७/५४/१

३. वही ६/७/६

४. श०ब्रा० १/५/१/७

५. म०स्मृ० ४/३; कौ०अ० ८/३/३५

इसके अतिरिक्त कौटिल्य आचार्य भारद्वाज, आचार्य विशालाक्ष, आचार्य पराशर, आचार्य पिशुन, आचार्य कौणपदन्त, आचार्य वातव्याधि आदि का स्मरण अपने ग्रन्थ में करते हैं और जगह-जगह उनके मतों को देते हैं[१]। ईशोपनिषद् के प्रारम्भ में ही ईश्वर की सत्ता सर्वत्र मानकर 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' कहकर धन के समान वितरण का संकेत किया गया है[२]। आचार्य शुक्र और महर्षि व्यास सामाजिक सुरक्षा, आर्थिक व्यवस्था तथा वर्णाश्रमों को विद्याओं में सन्निहित मानते हैं[३]। कौटिल्य भी ऐसा ही विचार देते हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, दान देना, सहिष्णुता को धर्म का साधन मानते हैं[४]। आचार्य कौटिल्य भी सुख का मूल मन्त्र धर्म को ही मानते हैं और अर्थ को धर्म का प्रमुख आधार।

एक विद्वान् ने अर्थशास्त्र की प्राचीनता पर विचार करते हुए यह लिखा है कि अर्थशास्त्र की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस पर मतभेद हैं किन्तु जब से समाज-जीवन प्रारम्भ हुआ, तभी से अर्थ और अर्थशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान भी प्रारम्भ हुआ। जहाँ तक शास्त्र के अर्थ का प्रश्न है तो इसका अर्थ केवल पुस्तक अथवा ग्रन्थ ही नहीं होता अपितु इसका अर्थ ज्ञान अथवा विषय विशेष का ज्ञान भी होता है[५]। इसलिए इस रूप में यह कहना सम्भव है कि अर्थशास्त्र की परम्परा प्राचीन परम्परा है और यह लिखित तथा अलिखित दोनों रूप में पूर्व से ही रही है और इसका सुसंगठित रूप अर्थशास्त्र ग्रन्थ रहा है।

---

१. कौ०अ०, पृ० ६४-६७
२. ई०द्वा०उ०, पृ० १
३. शु० नी० १/१५३; म०भा० शां० पं० ५५/२८
४. या०स्मृ० १/११२; कौ०अ०, पृ० ६४७
५. Bhide's Sanskrit English Dictionery.

कौटिल्य का समय

आचार्य कौटिल्य का व्यक्तित्व मौर्य साम्राज्य के साथ विपुल यश का भागीदार होकर भारत के राजनीतिक इतिहास में अपनी अमर कीर्ति बनाए हुए है। दूसरी ओर संस्कृत साहित्य में अपनी अद्भुत और अनुपमेय कृति के कारण उन्हें अनूठा स्थान प्राप्त है। इन्हीं असाधारण विशेषताओं के कारण आचार्य के नाम का उल्लेख पुराणों, काव्य और नाटकादि ग्रन्थों में प्राप्त है।

कौटिल्य को जो नाम पिता द्वारा प्राप्त हुआ था वह विष्णु गुप्त है। चणक नामक पिता के पुत्र होने के कारण उन्हें चाणक्य के नाम से जाना जाता था। कुटिल राजनीति की प्रस्तुति करने अथवा कुटिल गोत्र होने के कारण उनका नाम कौटिल्य है। आचार्य कौटिल्य के जीवन और समय को लेकर तथा उनके ग्रन्थ अर्थशास्त्र को लेकर भी, अनेक प्रकार के विवाद प्रचलित रहे हैं और इसमें भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् सम्मिलित रहे हैं। इस विवाद में यहाँ तक कह दिया गया है कि इस नाम का कोई व्यक्ति ही नहीं है और अर्थशास्त्र एक फर्जी ग्रन्थ है।

पं. शामशास्त्री नामक एक विद्वान् ने इस ग्रन्थ का उद्धार किया। उन्होंने मैसूर राज्य से प्राप्त इस ग्रन्थ के कुछ अंशों को पहले १९०५ में प्रकाशित किया और बाद में १९०९ में इसे प्रामाणिक रूप से पाठ की शुद्धता के सहित प्रकाशित किया । इस कार्य से कौटिल्य के विषय में जो अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ थीं, उनका निराकरण हुआ और यह भली प्रकार ज्ञात हो सका कि आचार्य कौटिल्य चन्द्रगुप्त के मन्त्री थे। इन्हीं की कृति यह अर्थशास्त्र है और जो मूल पाठ श्री शाम शास्त्री जी के द्वारा प्रकाशित किया गया है, वही इसका प्रामाणिक पाठ है[१]।

---

१. कौ०यु०द०, पृ० १८; कौ०अ०स०अ०, पृ० १५

संस्कृत के कथा ग्रन्थों में पंचतन्त्र का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध है। इसके रचयिता का समय ई०पू० ३०० माना जाता है। यह तो कहा ही जाता है कि इसकी रचना ३०० ई० के बाद तो कथमपि नहीं हुई होगी। इसके रचयिता ने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही मनु, शुक्र, पराशर के साथ चाणक्य का स्मरण किया है और इन्हें नय शास्त्र का कर्ता बताया है[१]।

मुद्राराक्षस नाम का एक संस्कृत नाटक प्रसिद्ध नाटक है। इसके रचयिता विशाख दत्त का समय ६०० वर्ष ईसवीय माना जाता है। इस नाटक की जो कथावस्तु है उसके आधार पर यह कहा जाता है कि यह एक प्रकार से चाणक्य की आंशिक जीवन कथा ही है। आचार्य विशाख दत्त की ही भाँति आचार्य दण्डी भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में आचार्य कौटिल्य का स्मरण करते हैं और यह निर्देश देते हैं कि कौटिल्य की दण्डनीति का अध्ययन करा[२]।

कुछ इतिहासविदों ने यह मत व्यक्त किया है कि आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में यह लिखा है कि राजा को दुर्ग के बीच में मन्दिरों की स्थापना करनी चाहिए। इन मन्दिरों में शिव, वैष्णव, लक्ष्मी आदि के मन्दिर हो सकते हैं। उन्होंने ब्रह्मा, इन्द्र, यम, स्कन्द आदि को मुख्य द्वार के इष्ट देवताओं में गिना है जिनमें शिव, स्कन्द एवं विशाख की पूजा हुआ करती थी[३]। यह समय पाणिनि का हैं। उन्होंने भी ऐसा संकेत किया है। अर्थशास्त्र ग्रन्थ में कई स्थानों पर कौटिल्य को इस ग्रन्थ का रचयिता कहा गया है। प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अन्त में कौटिल्य इस शास्त्र के प्रणेता कहे गए हैं। द्वितीय अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में वे राजाओं के लिए शासन-विधि के निर्माता कहे गए हैं।

---

१. मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय।
चाणक्याय च विदुषे नमोस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः।। पं०त०, पृ० १

२. द०कु०च०, पृ० ६३

३. कौ०अ०, पृ० ११२

अन्य अनेक विद्वान् ऐसे हैं जो आचार्य कौटिल्य के समय और उनके ग्रन्थ के रचना-समय पर विचार करते हैं और अपने-अपने मत देते हैं। एक विद्वान् ने विदेशी विद्वानों के भ्रामक मतों का निराकरण करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि अर्थशास्त्र की रचना ४०० ई० पू० में हुई थी[१]। इसी प्रकार से एक और विद्वान् आचार्य कौटिल्य को ३०० ई०पू० का आचार्य मानते हैं और वे अनेक अग्राह्य तर्कों का खण्डन करते हैं जिनका प्रतिपादन कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने किया है[२]।

एक अन्य विद्वान् का यह कथन है कि अर्थशास्त्र आचार्य कौटिल्य की महान कृति है। इसकी रचना ३२१ और ३०० ई०पू० के बीच हुई होगी। स्वयम् आचार्य इस ग्रन्थ की समाप्ति पर यह लिखते हैं कि जिसने शस्त्र, शास्त्र और नन्द राजा के अधीन भूमि का उद्धार अपने क्रोध से किया है, उसी विष्णु गुप्त ने इस अर्थशास्त्र की रचना की है। अर्थशास्त्र की समाप्ति पर स्वयमेव विष्णु गुप्त और आरम्भ में कौटिल्य लिखा है। इसके साथ ही साथ कामन्दक, दण्डी, बाण आदि लेखकों की रचनाओं से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है[३]।

प्रसिद्ध इतिहासविद् और धर्मशास्त्र का इतिहास नामक ग्रन्थ के लेखक श्री पी.वी.काणे महोदय के मत के अनुसार भी इस ग्रन्थ की रचना का समय ई०पू० ३०० वर्ष होना चाहिए। वे यह मत व्यक्त करते हैं कि कौटिल्य, अर्थशास्त्र के विषय में हम अन्त: प्रमाणों पर ही अपने तर्कों को रख सकते हैं क्योंकि वाह्य प्रमाण बहुत सार्थक नहीं हो सकते[४]। इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि इस ग्रन्थ और इसके रचनाकार का समय ३०० वर्ष ई.पू. ही हो सकता है।

---

१. हि०रा०त०, पृ० ३२७-३६४
२. भा०इ०रु०रे०, पृ० ५४७; ६७३-७००
३. कौ०यु०द०, पृ० १६
४. ध०शा०इ०(१), पृ० ३२

प्राचीन भारत की सामाजिक परिकल्पना

भारतीय परम्परा में अलिखित अथवा लिखित इतिहास की जानकारी हम वेद से ही प्रारम्भ कर सकते हैं। उसके पूर्व एक तो कोई प्रामाणिक जानकारी किसी विषय की नहीं है और यदि कोई जानकारी होती भी है तो वह निर्विवाद रूप से स्थापित नहीं होती। वेद ही एक मात्र ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें सामाजिक सन्दर्भ से जुड़े सभी प्रकार के विषयों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इस रूप में यदि हमें प्राचीन भारत की सामाजिक परिकल्पना को जानना है तो वेद, उपनिषद् और स्मृति आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका आधार लेकर हम तात्कालिक रूप में समाज का जो स्वरूप था, उसके विषय में जान सकें।

वेद प्रारम्भ में अनेक प्रकार की जिज्ञासों से अपने भाव व्यक्त करते हैं और वे यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि इस सृष्टि के आदि में सत् था अथवा असत्। देवता एक हैं अथवा अनेक। हम कौन हैं और कहाँ से आए हैं तथा हमें यहाँ आकर क्या करना है। इन सब जिज्ञासाओं के समाधान में वहाँ जो कहा गया उसका निष्कर्ष यही था कि पूर्व में असत् था और उसी असत् से सत् की उत्पत्ति हुई[१]।

बाद में वहाँ पर यह कहा गया कि तब न सत् था और न असत्। तब सत् और असत् के साथ ही न आकाश था और न ही अन्तरिक्ष ही था। यजुर्वेद में ही एक सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि प्रजापति ने इस सृष्टि में सत्य तथा असत्य के रूप को देखकर तब इनको पृथक् करने का प्रयत्न किया[२]।

प्रारम्भ के इसी विचार क्रम में सृष्टि की उत्पत्ति का संकेत किया गया और यह कहा गया कि यहाँ पर जो भी कुछ है, वह सब ईश्वर रूप है और उसी से वर्ण रूप में मनुष्य सृष्टि को उत्पन्न हुआ जानना चाहिए। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अथवा दासादि को समझना चाहिए।

---

१. देवानां पूर्वे युगेऽसतः सदजायत। कृ०य०तै०सं० २/१/५/३२; २/१/५/४

२. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। यजु० १९/७७

समाज के प्रारम्भ की इस प्रारम्भिक उद्‌भावना को ही उपनिषदों में देखा गया और बाद में स्मृतियों ने उसे क्रम से एक समाज का ऐसा स्वरूप दिया जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में सम्पूर्ण समाज के स्वरूप का निर्धारण किया गया और सभी को अपने-अपने कर्तव्य रूप धर्म के निर्वाह करने का निर्देश दिया गया।

आचार्य कौटिल्य राजशाही में अपना विश्वास रखते हुए भी वर्ण व्यवस्था के माध्यम से सभी के लिए अपने-अपने कर्तव्य रूपी धर्म का आख्यान करते हैं। वे यह लिखते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए यह आवश्यक है कि उनके लिए जिन कर्तव्य रूप धर्मों का कथन किया गया है, वे उनका पालन भली-भाँति करें और समाज के सुन्दर स्वरूप में सहायक हों[१]।

राजा, जो प्रजापालक है वह भी अपने वर्ण धर्म का पालन करे और प्रजा के लिए भी ऐसे निर्देश रखे जिससे उसकी प्रजा वर्ण धर्म से च्युत न हो पावे। आचार्य कौटिल्य प्रजा और राजा के लिए वर्ण धर्म के पालन को महत्त्वपूर्ण बताते हुए इसीलिए लिखते हैं कि राजा प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने दे। अपनी प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक और परलोक में सुखी रहता है। वे लिखते हैं कि जो अपने धर्मरूपी कर्तव्य का पालन करता है उसे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसका पालन न करने से वर्ण तथा कर्म में संकरता आती है, जिससे लोक का नाश हो जाता है[२]।

इस रूप में चतुर्वर्णात्मक समाज अपने-अपने धर्मरूपी कर्तव्य का निर्वाह करता हुआ सामाजिक व्यवस्था को बनाए रहता था और राजा उसका संरक्षण करता था।

---

१. कौ०अ०, पृ० १२-१३

२. व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति।
तस्मात् स्वधर्मभूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मसंदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति।। वही, पृ० १४

वर्ण व्यवस्था

भारतीय समाज के सन्दर्भ में यदि हम कुछ भी प्रामाणिक रूप से जानना चाहते हैं तो हमें सर्वप्रथम वैदिक वाङ्मय का अवलोकन करना पड़ेगा। वेद इस देश के लिए सामान्य रूप से देव स्तुतियाँ करने वाले अथवा यज्ञों के विधानों का व्यवस्थापन करने वाले ग्रन्थ ही नहीं है अपितु ये वे ग्रन्थ हैं जिनके उत्स में समग्र भारतीय परम्परा और विचारधाराएँ छिपी हुई हैं। यही कारण है कि सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में भी जब हम वर्ण और आश्रम की स्थिति का अवलोकन करना चाहेंगे तो वेद और वेदोत्तर साहित्य को देखना ही होगा। वहाँ से जिस रूप में संकेत प्राप्त होंगे, उन्हीं का विस्तार आगे देखा जा सकेगा।

वर्ण शब्द का अभिप्राय

संस्कृत व्याकरण में वर्ण शब्द की सिद्धि 'वर्ण्' अथवा वर्ण धातु से की जा सकती है। एक स्थान पर 'वर्ण- धातु के अर्थ में वर्ण वर्णने लिखा गया है। इसमें यह प्रतीत होता है कि इससे वर्ण शब्द की निष्पत्ति किए जाने पर सम्भवतः यह अर्थ हो सकता है कि जिसके द्वारा समाज के विविध भागों का वर्णन किया जाए, वह वर्ण कहा जावेगा[१]। दूसरे स्थान पर जो वर्ण धातु पढ़ी गई है, उसके लिए लिखा गया है- वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु। इस वर्ण धातु का अर्थ क्रिया, विस्तार, गुण आदि हो सकते हैं। और यदि इसको वर्ण शब्द के मूल में माना जाए तो यह कहा जा सकता है कि इसका अभिप्राय गुण का प्रकटीकरण हो सकता है। अर्थात् वर्ण शब्द से किसी व्यक्ति या समूह के गुणों को प्रकट किया जा सकता है[२]। बाद में सम्भवतः इसी से वर्णों के गुणों का अभिप्राय लिया गया होगा।

---

१. सि०कौ०, पृ० २६७

२. वही, पृ० २८६

कोशकार जब वर्ण शब्द का अभिप्राय देते हैं तो वे रंगना, सौन्दर्य जैसे अर्थ करने के साथ-साथ मनुष्य समुदाय के चार वर्णों का अभिप्राय भी व्यक्त करते हैं, जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सम्मिलित हैं[१]।

इस सन्दर्भ में यदि वर्ण शब्द का वैदिक प्रयोग देखा जाए तो यह शब्द ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त होने के बाद रंग अथवा प्रकाश का ही अर्थ देता है[२]। कहीं-कहीं पर वर्ण शब्द के प्रयोग से काले अथवा गोरे चर्म वाले सामाजिक का अर्थ भी निकलता है[३]।

एक विद्वान् का यह अभिमत है कि प्राचीन समय में दो प्रकार के ही समुदाय थे- आर्य और दास। इन्हीं के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग था। आर्य और दास वर्ण में भिन्न-भिन्न थे इसलिए तब वर्ण का अर्थ रंग था; क्योंकि प्रारम्भ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ[४]। बाद में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग वेद में हुआ और वह ब्रह्म शब्द से प्रयोग में आया और यही ब्राह्मण वर्ण का अर्थ देने लगा[४]।

<u>वर्णों की वेदकालिक अवधारणा</u>

वर्णों के प्रादुर्भाव के सन्दर्भ में यदि वेद तथा वेदोत्तरकालिक स्थितियों को देखा जाए तो यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेद का वही मन्त्र अधिक स्मरणीय और उदाहरणीय है जिसमें कहा गया है कि ईश्वर के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य एवं पगों से शूद्र उत्पन्न हुए[५]।

---

१. सं०श०कौ०, पृ० १०२१ २. ऋक् १/७३/७; ६/१०५/४; १०/१२४/७

३. यो दासं वर्णमधरं गुहा कः। ऋक् २/१२/४ ४.ध.इ.(१), पृ० ११०-१११

५. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरुतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। ऋक् १०/९०/१२

ऋग्वेद के इस मन्त्र में जिस प्रकार से ईश्वर के विविध अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की उत्पत्ति का प्रकार कहा गया है, उसी प्रकार की व्याख्या महर्षि सायणाचार्य ने भी की है[१]। एक अन्य स्थान पर यह संकेत है कि प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, वक्षस्थल एवं बाहु से क्षत्रिय, देह के मध्यभाग से वैश्य एवं पदों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है[२]।

वैदिक सन्दर्भों में अनेक स्थानों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के साथ-साथ दास का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द ब्राह्मण के लिए, क्षत्र शब्द राजन्य के लिए और विश् शब्द वैश्य के लिए तथा दास को सम्मिलित करते हुए 'पंचजना:' का प्रयोग हुआ है[३]।

उत्तरकालिक संकेत

उपनिषद् परम्परा में तो चारों वर्णों का उल्लेख अनेकश: हुआ है क्योंकि वहाँ पर उस परम शक्ति ब्रह्म से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, इसका क्रम से वर्णन है। वृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति से किस प्रकार की मैथुनी सृष्टि हुई, इसका विस्तार से वर्णन है। वहाँ पर यह संकेत है कि वह अकेला रमण नहीं कर सका इसलिए उसने अपने को दो भागों में बाँट लिया और वही स्त्री तथा पुरुष बनकर रमण करने लगा। बाद में वहाँ पर यह कहा गया कि ब्रह्मरूप उस प्रजापति ने अपने रमण में आवश्यकता के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादिकों को उत्पन्न किया[४]।

---

१. धर्म०अ०, पृ० ३५४ २. तै०सं० ७/१/१

३. ऋक् १०!१४१!५; तै०ब्रा० ३/६/१४; ऋक् ३/३४/२; ३/३७/६

४. स वै नैव रे मे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्।..............ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि..............। स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यान्ते...........। स नैव व्यभवत् स शौद्र वर्णमसृजत पूषर्णामयं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति। ई०द्वा०उ०, पृ० २७६-२८२

वेदोत्तरकाल अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थों का रचनाकाल और उस समय की सामाजिक परिस्थति इतना संकेत तो करती ही है कि तब ब्राह्मण वर्ण के अनेक विभेदों का प्रचलन हो चुका था। पुरोहित, उपदेशक, राजपुरोहित तथा आचार्य के भेद से ब्राह्मण को जाना जाने लगा था। इसी के साथ ही यह भी संकेत थे कि वे ही ब्राह्मण समाज में प्रतिष्ठा के अधिकारी होते थे जो ज्ञानी होते थे। विशेषकर ब्रह्मज्ञान का महत्त्व था इसलिए जो ब्रह्मज्ञानी थे, वे ब्राह्मण समाज में विशेष आदर के पात्र थे[२]। ब्राह्मण की बुद्धि कौशल का ही यह विशेष स्वरूप था कि वे समाज का नेतृत्व करते थे और समाज की विविध समस्याओं के उत्पन्न होने पर उनके मत का मूल्य होता था[३]।

वृहदारण्यकोपनिषद् में ही यह सन्दर्भ दिया गया है कि जब ब्रह्मविभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ तो उसने क्षत्र अर्थात् क्षत्रिय की रचना की। इसलिए उस युग में क्षत्रियों अर्थात् राजन्यों का बहुत महत्त्व था। वे ही एक प्रकार से समाज का संरक्षण करते थे और समाज के शक्ति सम्पन्न अगुआ होते थे। यहाँ तक उनकी प्रतिष्ठा का संकेत था कि वे राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण से श्रेष्ठ स्थान पर बैठते थे[४]।

एक स्थान पर तो यह संकेत है कि क्षत्रियों ने यह उद्घोष किया था कि वही ब्रह्मविद्या के आदि प्रणेता हैं। इसलिए आचार्यगण प्रायः उनके यहाँ ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करने जाते थे। क्षत्रियों में जनक, अजातशत्रु, जानश्रुति आदि ब्रह्मवादी क्षत्रियों का उल्लेख किया जा सकता है[५]।

---

१. प्रा० भा०, पृ० ७१ २. बृ० उ० १/४/११

३. तै०उ० १/११/४ ४. बृ० उ० १/४/११

५. यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्य प्रशासनमभूत। छा०उ० ५/३/७; बृ० उ० ६/२/८

विश् अर्थात् वैश्य के लिए भी ऐसें ही संकेत उपनिषद् परम्परा में देखे जा सकते हैं। वहाँ पर कहा गया कि सृष्टि उत्पत्ति के क्रम में वह ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ, इसलिए उसने विश् की सृष्टि की और वैश्यों को व्यापार कार्य के लिए निर्धारित किया[१]। वैश्य वर्ग का समाज में पर्याप्त सम्मान था और इस वर्ण का सम्मान भी इसके आचरणों के कारण ही था[२]।

शूद्र की उत्पत्ति और उसके महत्त्व का आख्यान भी उपनिषदें उसी रूप से करती हैं जैसे अन्य वर्णों का किया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् में यह कथन है कि किसी सेवक के अभाव में ब्रह्म सेवा कार्य करने में सक्षम नहीं हुआ इसलिए उसने अपने वैभव से शूद्र वर्ण की रचना की। पूषादेव शूद्रों से इसलिए सम्बद्ध है क्योंकि यह सभी का पोषण करते हैं[३]। इसका अभिप्राय यह हुआ कि शूद्र अपनी सेवा से समाज की सेवा ही करता है और यही उसके श्रम की सार्थकता है। शूद्रों में भी अनेक उपनाम प्रचलित हुए थे जो सम्भवत: उनके विशेष-विशेष कर्मों से सम्बन्धित थे। इनमें रथकार, सेनानी और दास आदि की गणना थी[४]। चाण्डाल को भी शूद्र ही कहा गया है। एक विशेष उदाहरण इस सन्दर्भ का यह देखा जा सकता है जिसमें शूद्र के द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया। रैक्व का वर्ण शूद्र ही था। उसने राजा जानश्रुति को संवर्ग विद्या का उपदेश किया था[५]। संवर्गविद्या ब्रह्मविद्या ही थी जिसमें सृष्टि के मूल तत्त्व और उसकी शक्ति का आख्यान था जिसे वायु की शक्ति के द्वारा कहा गया था।

---

१. स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। ई०द्वा०उ०, पृ० २८१

२. छा०उ०, ५/१०/७ ३. बृ० उ० १/४/१३ ४. प्रा०भा०, पृ० ७१

५. तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदुहपुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्त्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं। दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे।। ई०द्वा०उ०, पृ० १७१

ब्राह्मण की श्रेष्ठता

जिस रूप में यह कहा गया है कि भगवान् के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई, उससे यही निश्चय किया जा सकता है कि ब्राह्मण सभी वर्णों में उसी प्रकार से श्रेष्ठ है जिसप्रकार शरीर में मुख श्रेष्ठ है। ऋग्वेद में एक स्थान पर यह सन्दर्भ आया है कि जो राजा ब्राह्मणों को दान देता है और आदर के साथ उनकी प्रतिष्ठा करता है, वह सदा-सर्वदा सुखी रहता है[१]। तैत्तरीय संहिता में यह कहा गया कि अन्य सभी देव तो चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु ब्राह्मण ऐसे प्रत्यक्ष देवता हैं जिन्हें हम साक्षात् रूप से देख सकते हैं[२]। एक अन्य सन्दर्भ में यह संकेत है, जो ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का सूचक है कि ब्राह्मणों में ब्राह्मण्य, पवित्राचरण, यज्ञ तथा लोकपंक्ति की श्रेष्ठता रूपी चार विशेष गुण होते हैं। इस रूप में जो ब्राह्मणों से शिक्षा पाता है, वह ब्राह्मणों को चार अधिकार प्रदान करता है। ये अधिकार हैं- अर्चा, दान, अजेयता और अवध्यता[३]।

उपनिषद् ग्रन्थों में भी ऐसे ही संकेत हैं जिनमें यह कहा गया है कि ब्राह्मण अन्य सभी से श्रेष्ठ है। एक स्थान पर क्षत्रिय की श्रेष्ठता बताते हुए यह कहा गया है कि यद्यपि कहीं-कहीं क्षत्रिय का सम्मान ब्राह्मण को करना होता है, तथापि यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण की हत्या करता है तो वह अपनी योनि खो देता है। ऐसा क्षत्रिय पाप का भागीदार बनता है[४]।

---

१. अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रति जनान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः।। ऋग् ४/५०/९

२. तै०सं० १/७/३/१

३. प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्ये प्रतिरूपचर्यया यशो लोकपंक्ति लोकः।
पच्यमानश्चतुर्भिःब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन..........। श०ब्रा० ११/५/७/१

४. ई०द्वा०उ०, पृ० २८१

ब्राह्मण की श्रेष्ठता के साथ यह अवश्य इंगित किया गया है कि उसे अक्षर ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यदि उसे अक्षर ज्ञान नहीं होगा तो उसकी श्रेष्ठता भी प्रामाणिक और मान्य नहीं होगी। उपनिषद् में एक स्थान पर ज्ञान के महत्त्व का अंकन करते हुए यही कहा गया है कि जो गायें देय हैं, उन्हें वही प्राप्त कर सकता है जिसे अक्षर ज्ञान हो। यहाँ पर अक्षर से (क्षरण न होने वाले) अर्थात् ब्रह्म को समझा जा सकता है[1]। एक दूसरे सन्दर्भ में अक्षर ब्रह्म के ज्ञान को परम ज्ञान मानने का संकेत है जिसमें यह कहा गया है कि ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् ब्राह्मण किसी से भयभीत नहीं होता और वह सदा अपने को बलवान् बनाए रहता है[2]।

ज्ञान के साथ ब्राह्मण की श्रेष्ठता सत्य भाषण से भी थी क्योंकि सत्यकाम जाबालि के कथानक का यही संकेत है। जब जाबालि ने अपने पिता का नाम न जानने पर माता का नाम बताया और यह कहा कि मेरी माता मेरे पिता का नाम नहीं जानती, तब आचार्य ने कहा था कि वत्स! तुम निश्चित रूप से ब्राह्मण हो क्योंकि ब्राह्मण से भिन्न कोई ऐसा सत्य भाषण नहीं कर सकता[3]।

---

१. तान् होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मनिष्ठः स एता मा उद्वतामिति। ई०द्वा०उ०, पृ० ३१७
२. यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न विभेति कुतश्चन्। एतं ह वाव न तपति। किमहं साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। वही, पृ० ६२
३. तं होवाच किं गोत्रो नु सोम्यासीति सा होवाच नाहमेत् वेद भो यद् गोत्रो अहमस्म्यपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीद् यदहं चरन्ती परिचारिणी..........। वही, पृ० १७४

महर्षि मनु ने ब्राह्मण की श्रेष्ठता के विषय में यह कहा है कि यह सर्वदा श्रेष्ठ और महान है। उन्होंने लिखा है कि यागादि क्रिया करने से और जिनके आश्रम से लोक ठहरते हैं, ऐसे ब्राह्मणों को भला कौन हीन कर सकता है। विप्र चाहे मूर्ख हो अथवा विद्वान् वह देव सदृश है। जिस प्रकार अग्नि चाहे मन्त्रपूत होवे तब भी अग्नि है और मन्त्रपूत न भी होवे, तब भी वह अग्नि ही है[१]।

स्मृतिकार यह कहते हैं कि ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि वह प्रकृत्या देवता है इसलिए यदि ब्राह्मण अनिष्ट करता है तो भी वह पूजने योग्य है। वह प्रकृति देवता है और यह स्तुति के योग्य है[२]।

आचार्य का यह कथन भी है कि वेद के ज्ञाता विद्वान् का गृहस्थ स्वधर्म का आचरण करता हुआ विप्रों की सेवा करे[३]। इस रूप में यह संगत है कि ब्राह्मण के कर्म के साथ-साथ उसका महत्त्व उसके जन्म के साथ ही निरूपित है क्योंकि वह सभी वर्णों में प्रथम है और उसका जन्म भी परमात्मा के मुख से हुआ है।

---

१. यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवश्च सर्वदा।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्ताञ्जिजीविषुः।।
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्।। मनु०स्मृ०, पृ० ४२२
२. एवं यद्यप्यनिष्टाषु वर्तन्ते सर्वकर्मषु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्।। वही, पृ० ४२३
३. विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः।। वही, पृ० ४२६

ब्राह्मणों के कर्तव्य

वर्णों के कर्तव्यों के सन्दर्भ में जब यह कहा जा चुका है कि जन्म से वर्ण की पहचान होने पर भी कर्म से वर्ण का परिवर्तन सम्भव था, तो तब के समाज में यह आवश्यक था कि सभी के कर्तव्यों का कथन किया जाता। प्राचीन समय में ऐसा किया भी गया है और सभी वर्णों के कर्तव्यों का कथन किया गया है तथा यह कहा गया है कि जो अपने लिए निर्धारित कर्म का आचरण नहीं करता है वह अपने वर्ण से च्युत होकर हीन हो जाता है। इस सन्दर्भ में यदि देखा जाए तो ब्राह्मणों के कर्तव्यों का कथन भलीभाँति किया गया है।

स्मृतियों में क्योंकि मनु स्मृति महत्त्वपूर्ण है इसलिए इसमें यह देखना उचित होगा कि प्राचीन समय में ब्राह्मणों के क्या कर्तव्य थे। महर्षि ने वर्णों के कर्तव्यों का कथन करने के पूर्व यह मन्तव्य प्रकट किया है कि श्रुति और स्मृति के धर्मों का अनुकरण कर मनुष्य इसी लोक में कीर्ति के साथ-साथ परलोक का सुख भी प्राप्त करता है[१]। इसलिए सभी के लिए श्रुति-स्मृति से प्रतिपादित अपने कर्मरूपी धर्म का पालन अवश्य करना चाहिए। और ब्राह्मण के लिए तो यह कहा गया है कि जो ब्राह्मण तर्क का सहारा लेकर श्रुति तथा स्मृति का अनादर करता है, वह सन्तों और स्वजनों से पृथक् कर देने योग्य है[२], क्योंकि वह नास्तिक होने के साथ-साथ वेद का निन्दक है और वेद निन्दक ब्राह्मण कुल में ग्राह्य नहीं है।

---

१. श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्ति मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमम् सुखम्।।
२. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः।
स साधुभिर्वहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।। मनु० स्मृ० २/९-१०

आचार्य कौटिल्य ने भी यही लिखा है कि अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह ब्राह्मण के धर्म है[१]। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि कौटिल्य ब्राह्मण वर्ण के इन कर्तव्यों को उनके धर्म कहते हैं। वे आगे यह लिखते हैं कि यह तो ब्राह्मण का धर्म है ही; इसके साथ ही सभी के लिए जिन धर्मों का कथन किया गया है, वे भी ब्राह्मण के लिए श्रेष्ठतम धर्म हैं। ये धर्म हैं कि वह किसी की हिंसा न करे, सत्य वचन का पालन करे, पवित्रता का आचरण करे, किसी से ईर्ष्या न करे, सभी पर दयालु बना रहे अर्थात् सभी पर दया भाव बनाए रहे और उसके स्वभाव में क्षमाशीलता होवे[२]।

कौटिल्य का इस सन्दर्भ में यह कथन है कि जो इस अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन करता है, वह स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति करता है। जो अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन नहीं करता, वह वर्ण संकरता को प्राप्त होता है तथा लोक के नाश का हेतु बनता है[३]।

कौटिल्य का इस सन्दर्भ में एक विशेष दृष्टिकोण यह है कि प्रजा में यदि कोई अपने वर्ण-धर्म का पालन नहीं करता है तो राजा का यह कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजा से वर्ण धर्म का पालन करावे। ऐसा राजा ही लोक और परलोक में सुखी होता है[४]।

---

१. स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति। कौ०अ०, पृ० १२
२. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयानृशंस्यं क्षमा च। वही, पृ० १४
३. स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोकः संकरादुच्छिद्येत। वही, पृ० १४
४. तस्मात् सर्वभूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति।। वही, पृ० १४

महर्षि मनु ने जब ब्राह्मणों के लिए कर्तव्यों का निर्धारण किया और उनके लिए ऐसे कर्म बताए जो श्रेष्ठ संस्कारों के प्रतीक हैं तो इसके पीछे उनका यही तर्क था कि ब्राह्मण अन्य वर्णों से पहले उत्पन्न हुआ है और उसे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण शरीर में मुख जैसी श्रेष्ठता प्राप्त है। अतएव महाराज मनु ने कहा कि अध्ययन करना तथा अध्यापन कराना, यज्ञ करना तथा यज्ञ कराना, दान देना एवं दान लेना, ब्राह्मणों के कर्तव्य हैं[१]।

क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न है साथ ही साथ सभी वर्णों में प्रथम उत्पन्न हुआ है, इसलिए स्वाभाविक रूप से वह सभी का प्रभु है[२]। ब्राह्मण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए महर्षि मनु यहाँ तक कहते हैं कि जीवों में प्राणधारी, प्राणधारियों में बुद्धिमान्, बुद्धिमानों में मनुष्य और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है[३]। इस श्रेष्ठता के कथन में इतना अवश्य है कि वे ज्ञानी और वेदपाठी ब्राह्मण को ही श्रेष्ठता प्रदान करते हैं। जो ज्ञानी नहीं है और वेद पाठ से विरत है, वह ब्राह्मण उनकी दृष्टि में वरेण्य नहीं है।

---

१. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।।
उत्तमांगोद भवाज्जैष्ठाद् ब्राह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः।।
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः।। म०स्मृ०,पृ० १८-१६

पुराणों में विस्तार पूर्वक ब्राह्मणों के कर्तव्यों का कथन किया गया है और वहाँ पर भी प्रायः वही कर्तव्य कहे गए हैं, जो कर्तव्य स्मृतियों में ब्राह्मणों के लिए निर्धारित हैं। श्रीमद्भागवतपुराण में ब्राह्मण के कर्तव्यों का कथन करते हुए यह कहा गया है कि जिसके संस्कार अविच्छन्न रूप से श्रेष्ठ होते हैं, वह द्विज कहा जाता है। द्विजों के लिए यज्ञ, अध्ययन और दान विहित हैं। उनके जन्म, कर्मश्रेष्ठ और आश्रमानुकूल होते हैं। इनमें जो ब्राह्मण हैं वे अप्रतिग्रही होकर अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह षड्कर्मों का आचरण करते हैं[१]।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण के लिए यह कहा गया है कि शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, दया, सत्यादि, ब्राह्मण के जीवन के स्वाभाविक लक्षण हैं[२]। अर्थात् ब्राह्मण अपने लिए निर्धारित छह कर्म करता हुआ भी, इन गुणों से युक्त होना चाहिए, अन्यथा वह ब्राह्मण के स्वभाव लक्षण वाला नहीं कहा जा सकेगा।

---

१. संस्कारायविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद् यम्।
इज्याध्ययनानि विहितानि द्विजन्मनाम्।।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः।
विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः। भा०म०पु०, पृ० ३७६
२. शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं दयाच्युतात्मतत्त्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्।। वही, पृ० ३७६

यज्ञ

तैत्तरीय संहिता के एक उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि यज्ञ के निमित्त अग्नि की स्थापना करना ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य था। वहाँ पर यह लिखा है कि जिस ब्राह्मण के घर में वेदाध्ययन एवं वेदी (अर्थात् यज्ञार्थ अग्नि-स्थापन) का त्याग हो गया हो, वह तीन पीढ़ियों में दुर ब्राह्मण हो जाता है[१]। एक अन्य स्थान पर यह लिखा है कि ब्राह्मण यदि पौरोहित्य कर्म से अपनी जीविका न चला सके तो वह उस यज्ञ से भी अपनी जीविका प्राप्त कर सकता है जो ब्राह्मण के द्वारा ही सम्पादित हो सकती है[२]। वाल्मीकि रामायण में दिए गए एक सन्दर्भ में यह संकेत है कि त्रिशंकु के शाप प्राप्त होने पर विश्वामित्र ने उसके लिए यज्ञ करने का निश्चय किया था[३]।

उपनिषद् काल में यज्ञों का पूर्ण प्रतिष्ठापन जहाँ भौतिक रूप से था, वहीं उस समय उनकी लौकिक व्याख्या के साथ पारलौकिक व्याख्या भी होने लगी थी। वहाँ पर यह कहा गया है कि देवकार्यों का सम्पादन यज्ञ की वेदी पर होता है। तब यज्ञ धर्म स्कन्ध के रूप में स्वीकृत था[४]। उस समय अनेक बड़े-बड़े यज्ञ समायोजित किए जाते थे- ऐसा संकेत अनेकशः हुआ है[५]। एक कथन इस प्रकार का विवेचन करता था कि यज्ञ दक्षिणा में प्रतिष्ठित है, दक्षिणा श्रद्धा में प्रतिष्ठित है क्योंकि दक्षिणा श्रद्धापूर्वक दी जाती है[६]।

---

१. तै०सं० २/१/१०/१
२. जै०सू० ६/६/१८; का०श्रौ० १/२/२८
३. वा०रा० बाल० ५६/१३-१४
४. छा०उ० २/२३/१
५. वही १/१०/७
६. बृ० उ० १/१०/७

महाराज जनक जी द्वारा किए गए यज्ञ का संकेत इसप्रकार का है जिसमें ब्राह्मणों के सम्मिलित होने का वर्णन है[१]। यज्ञ की आध्यात्मिक महत्ता का कथन इस रूप में है जिसमें यह कहा गया है कि आत्मा को जानने में यज्ञ भी सहायक है[२]।

भारतीय परम्परा में इसके अतिरिक्त भी यज्ञों का विधान है। पंचयज्ञ की परम्परा में ब्रह्म यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृ यज्ञ कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त सात प्रकार के पाक यज्ञ तथा सात प्रकार के सोम यज्ञों का कथन भी किया गया है। सात प्रकार के पाक यज्ञों में अष्टका, श्राद्ध, श्रावणी आदि का कथन है। सोमयज्ञों में अग्निष्टोम, षोडशी, बाजपेय आदि सम्मिलित हैं[३]।

ऋग्वेद में एक स्थान पर तो यह कहा गया है कि यज्ञ करना न केवल ब्राह्मण का अपितु मानव का परम धर्म है। ब्राह्मणों के कर्तव्यों में इसी भाव के कारण सम्भवत: यज्ञ को जोड़ा गया है और यह कहा गया है कि ब्राह्मण यज्ञ करे और यज्ञ करावे। पुराण भी इसी दृष्टि का समर्थन करते हैं।

---

१. बृ० उ० ३/१/१

२. स व एष महाजन आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणाभूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष..................ब्राह्मणा विविदषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। वही ४/४/२२

३. वै० सं०स०, पृ० ३६

४. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन ।
ते ह नाकं महिमानः। ऋक् १०/६६/१६

पुराणों में यज्ञ के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से विचार किया गया है और वहाँ पर यह कहा गया है कि जिस कर्म विशेष में देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विज और दक्षिणा इन पांचों का संयोग हो, उसे यज्ञ कहते हैं[१]।

एक अन्य सन्दर्भ में यह कहा गया है कि यज्ञ से देवताओं का वर्धन होता है, यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से मनुष्यों का पालन-पोषण होता है, इसलिए यज्ञ कल्याण के हेतु कहे जाते हैं[२]। एक और पुराण का भी लगभग यही मत है जिसमें यह संकेत है कि यज्ञ से देव पोषित होते हैं, यज्ञ से वृष्टि होकर मनुष्य अभिवर्धन को प्राप्त होते हैं, यज्ञ प्रायः सम्पूर्ण जगत् के पालन-पोषण का हेतु है[३]।

विष्णु पुराण में इसीलिए यह कहा गया है कि वेदनिन्दक, स्वधर्मत्यागी और यज्ञ में बाधा पहुँचाने वाले को विविध प्रकार की नाटकीय यातनाएँ मिलती हैं[४]।

---

१. देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते।। म०पु०, पृ० ६६

२. यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः।
आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याण हेतवः।। प० पु०, सृष्टिकाण्ड ३/१/२४

३. यज्ञैराप्यायिता देवा वृष्टियुत्सर्गेण वै प्रजाः।
आप्यायन्ते तु धर्मज्ञा यज्ञाः कल्याण हे तवः।। वि०पु० ६/१/८

श्रीमद् भागवत पुराण में यह कहा गया है कि जिस राजा के राष्ट्र में वर्णाश्रमधर्मियों के द्वारा यज्ञ पुरुष भगवान् का भजन होता है, उस पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् के प्रसन्न होने पर संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो अप्राप्य है[१]। यही भाव और भी विस्तारित है जहाँ पर यह कहा गया है कि यज्ञ से देवगण, समस्त प्रजा, अन्न जीवी प्राणी तथा यज्ञ पर सभी कुछ निर्भर है[२]। विष्णु पुराण तो यज्ञ के लिए यह लिखता है कि यज्ञादि क्रियाओं का कर्ता वही है, उनका फल भी वही है तथा यज्ञ के साधन स्रुवा आदि सभी हरि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है[३]। इसी कारण से पुराण ब्राह्मण के कर्म में यज्ञ को महत्त्व देते हैं।

आचार्य कौटिल्य ने राजा के कर्तव्यों के सन्दर्भ में यह लिखा है वह यज्ञ करे, यज्ञशाला में उपस्थित होकर अभिवादन पूर्वक उनके कार्यों को देखे[४]।

---

१. यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपुरूषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः।।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने।
तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतमीश्वरेश्वरे।। भा०म०पु० ४/१/१८
२. यज्ञाद् देवाः प्रजाश्चैव यज्ञाद् अन्ननियोगिनः।
सर्वं यज्ञात्सदा भावि सर्वं यज्ञमयं जगत्।। कालि० पु० ३१/४०
३. कर्ता क्रियाणां स च इज्यते क्रतुः स एव तत्कर्मफलं च तस्य।
स्रुवादि यत्साधनमप्यशेषं हरेर्न किञ्चिद् व्यतिरिक्तमासते।। वि०पु० ३/१/३४
४. कौ०अ०, पृ० ७७

दान

ब्राह्मण के लिए कर्म निर्धारित करते समय उसे दान देने और दान लेने का अवसर भी दिया गया था। क्योंकि ब्राह्मण की जीविका शिक्षा देने से भी चलती थी किन्तु केवल शिक्षा मात्र से जीविका की सम्भावना न होने से दान लेना भी ब्राह्मणों के जीवन का आदर्श था। निर्धनता, सादा जीवन, उच्च विचार और धन संचय से दूर रहकर संस्कृति और धर्म की रक्षा करना उनका ध्येय था। मनु ने कहा है कि एक ब्राह्मण उतना ही धन संचय करे जितना एक कुसूल अथवा कुम्भी में आ सके[१]। याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि यदि वे अपनी जीविका न चला सकें तो फसल कट जाने के बाद जो धान्य की बालियाँ खेत में गिर पड़ी हों, उनको चुन कर और उनसे अन्न प्राप्त कर अपना उदरपोषण करे। इसे ही मनु ॠत कहते हैं[२]।

कुछ आचार्य यह विधान कर गए हैं कि ब्राह्मण को अपनी जीविका के लिए राजा अथवा धनिक के पास जाना चाहिए[३]। मनु, याज्ञवल्क्य और वशिष्ठ का यह कहना है कि क्षुधा पीड़ित होने पर ब्राह्मण को राजा के पास अथवा अपने सुशिष्य के पास जाना चाहिए[४]। किन्तु उसके साथ ही यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण को अधार्मिक राजा से दान ग्रहण नहीं करना चाहिए।

---

१. मनु० स्मृ० ४/७
२. या० स्मृ० १/१२८; म०स्मृ० ४/५
३. गौ०ध०सू० ६/६३; या० स्मृ० १/१००; व०ध०सू० ६१/१
४. मनु०स्मृ० ४/३३; या० स्मृ० १/१३०; व०ध०सू० १२/२

ब्राह्मण के लिए यद्यपि दान लेकर अपनी जीविका चलाने का निर्देश प्राचीन समय में अवश्य था किन्तु ऐसा नहीं था कि इसके लिए किसी प्रकार की नीति अथवा प्रक्रिया निर्धारित न होवे। महर्षि मनु ने लिखा है कि यदि इच्छुक पात्र से ब्राह्मण को दान न मिले तो उसे योग्य व्यक्तियों के यहां जाना चाहिए और उनसे दान ग्रहण करना चाहिए। यदि ऐसा भी न हो सके तो ब्राह्मण को यह भी सौविध्य था कि वह शूद्र तक से दान प्राप्त कर सकता है[२]।

इन सभी आचार्यों ने यह भी लिखा है कि राजा का एक यह कर्तव्य था कि वह ब्राह्मणों की जीविका का प्रबन्ध भली प्रकार से करे[३]।

किस ब्राह्मण को दान देना चाहिए और कौन ब्राह्मण दान लेने के योग्य है, इसका भी संकेत स्मृतिकार करते हैं। कहा यह गया है कि जिसने वेद का अध्ययन न किया हो, जो कपटी होवे, लालची हो उसे दान देना व्यर्थ है। अपितु यदि ऐसे ब्राह्मण को दान दिया जाता है तो दाता को नर्क का भोग करना पड़ता है[४]। कहा यह गया है कि जो ब्राह्मण पड़ोसी है उसे दान देना चाहिए किन्तु वह यदि मूर्ख और अयोग्य हो तो दूर जाकर योग्य और विद्वान् को दान देना चाहिए[५]।

---

१. गौ०ध०सू० १७/१-२
२. मनु० स्मृ० १०/१०२-१०३
३. गौ०ध०सू० १०/९-१०; याज्ञ० स्मृ० ३/४४
४. मनु० स्मृ० ४/१९२-१९४
५. व०ध०सू० ३/९-१०; मनु० स्मृ० ८/३९२

ब्राह्मणों के द्वारा दान प्राप्त करने के लिए और भी अनेक प्रकार के विधान किए गए थे जिनमें यह बार-बार कहा गया था कि यद्यपि दान किसी के भी द्वारा किसी को भी दिया जा सकता था किन्तु दान लेने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही था। अर्थात् दान लेने का विशेषाधिकार केवल ब्राह्मण को ही था। यह अवश्य संकेत था कि दाता यह विचार कर सकता था कि उसे किस ब्राह्मण को दान देना है और किसे नहीं। क्योंकि दान लेने की योग्यता उसी ब्राह्मण में थी जो अपने माता-पिता और गुरु के प्रति सत्य हो, जो दरिद्र हो और सकरुण हो। दान लेने वाले ब्राह्मण के लिए यह भी आवश्यक था कि वह इन्द्रिय-निग्रही होवे[1]।

महर्षि गौतम, मनु तथा व्यास आदि ऋषि यह लिखते हैं कि जिसने सभी वेदों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है ऐसे ब्राह्मणों को जन्म से ही दान लेने का अधिकार है। अब्राह्मण को दान देने से जो पुण्य प्राप्त होता है, ब्राह्मण को दान देने से उससे सहस्त्रगुणाफल अधिक प्राप्त होता है[3]।

दान देने के लिए सभी को प्रोत्साहित किया गया है और यह कहा गया है कि ब्राह्मण को दान देना परम श्रेष्ठ कार्य है और इसका पालन सभी को करना चाहिए। दान के महत्त्व को आचार्य कौटिल्य भी स्वीकार करते हैं और यह लिखते हैं कि दिए हुए दान को न देने वाला दण्ड का अधिकारी है[4]।

---

१. ब०ध०सू० ६/२६; याज्ञ० स्मृ० १/२००
२. गौ०ध०सू० ५/१८; मनु स्मृ० ७/८५; व्यास० स्मृ० ४/४२
३. समद्विगुणसाहस्त्रानन्त्यानि फलान्यब्राह्मणश्रोत्रियवेदपारगेभ्यः। गौ०ध०सू० ५/१८
सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मब्रुवे.......(मनु०स्मृ० ७/८५)
४. कौ०अ०, पृ० ३९५

क्षत्रिय

क्षत्रिय वर्ण के सम्बन्ध में प्राचीन समय से ही उल्लेख प्राप्त है। जैसे कि कहा गया है कि राजन्य बड़ा या महान् होता है। वह राजा होता है और मुकुट धारण करके वह सभी का अधिपति बन जाता है। वह अधिपति होने के साथ-साथ धर्म का भी रक्षक होता है[१]। शतपथ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि क्षत्रिय को कोई भी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व ब्राह्मण के पास जाना चाहिए। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के सहयोग से यश मिलता है[२]।

वेद का यह संकेत बहुत ही प्रचलित है कि क्षत्रिय भगवान् की भुजाओं से उत्पन्न हुए हैं। उपनिषद् इस सन्दर्भ में यह कहती है कि ब्रह्म ने अकेले होने पर विभूति युक्त कर्म करने में स्वयम् को असमर्थ पाया इसलिए सामर्थ्य से युक्त क्षत्रिय की उत्पत्ति की। इस उत्पत्ति के साथ यह भी कहा गया है कि क्षत्रिय से बढ़कर कोई नहीं है इसलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करते हैं और उसी में ब्रह्मभाव का अनुभव करते हैं।

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि ब्रह्मविद्या पर यद्यपि ब्राह्मण का अधिकार था तथापि क्षत्रियों का आधिपत्य भी सर्वत्र था[४]।

---

१. क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपति विशामत्ताजनि..........
ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि। ऐत० ३९/३
२. श०ब्रा० ४/१४/६
३. ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो पर्यजन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपासते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। ई०द्वा० उ०, पृ० २८१
४. छान्दो० पृ० ४७६

एक उपनिषद् का यह कथन है कि जैसे रथ की नाभि में अरे लगे होते हैं उसी प्रकार चार वेद ब्राह्मण और क्षत्रिय में हैं[१]।

स्मृतियों में क्षत्रिय के लिए जो लिखा गया है उसके अनुसार यह कहा गया है कि प्रजा की रक्षा में अपनी शक्ति का उपयोग करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना तथा विषयों में अधिक सम्पृक्त न रहना-क्षत्रिय के लिए निर्धारित कर्तव्य हैं[२]। एक स्मृति में तो मिताक्षराकार ने यह लिखा है कि क्षत्रिय का प्रजापालन प्रधान कर्तव्य है। अर्थात् यही कर्म उसके लिए प्रधान है[३]। श्रीमद्भगवद् गीता में क्षत्रिय का जो धर्म कहा गया है, उसके अनुरूप यह प्रतिपादित है कि शौर्य, वीर्य, धृति, तेज, त्याग, आत्मजय, क्षमा, ब्रह्मण्यता, प्रसाद, सत्य, क्षत्रिय के लक्षण हैं[४]।

इस रूप में यदि पुराण परम्परा में देखा जाए तो लगभग ऐसी ही भावना का प्रदर्शन वहाँ पर भी किया गया है। श्रीमद्भागवत महापुराण में क्षत्रिय के सन्दर्भ में जो कहा गया है उसके अनुरूप क्षत्रिय के लिए प्रजा की रक्षा करने का काम महत्त्वपूर्ण रीति से करने के लिए निर्देश हैं। इसके साथ ही वहाँ पर यह भी कथन है कि राजा के रूप में जो क्षत्रिय हो, वह ब्राह्मण से कर न लेकर इतरजनों से ही प्रजा का पालन करे[५]।

---

१. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचोयजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च।। प्र० अ०, पृ० ३६; हि०स० पृ० ११२

२. प्रजानां रक्षणं दानभिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।। मनु० स्मृ० २/८९

३. मिताक्षरा, पृ० ५३

४. शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजः त्यागश्चात्मजयः क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यञ्च क्षत्रलक्षणम्।। गीता ७/११

५. राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद वा करादिभिः। भा०पु०, पृ० २७६

यद्यपि आचार्य कौटिल्य के समय में राजाओं के लिए यह निश्चित नहीं था कि वे क्षत्रियवर्ण के ही होते थे अथवा केवल क्षत्रियवर्ण के ही हो सकते थे। क्षत्रियों से इतर भी राजा हो सकते थे। डॉ. जायसवाल ने तथा अन्य विद्वानों ने भी देश के कुछ प्राचीन संघों का विवरण दिया है जिससे यह प्रतीत होता है कि इन शासकीय संघों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा दूसरे वर्ण के लोग भी हुआ करते थे। पाणिनि उन संघों को आयुध जीवी कहते हैं जबकि आचार्य कौटिल्य उन्हें शस्त्र जीवी कहते हैं[२]।

इस सब पर विचार करते हुए आचार्य कौटिल्य ने वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया है और इस व्यवस्था में क्षत्रिय के लिए जिन कर्तव्यों का उल्लेख किया है उसके अनुसार वे यह लिखते हैं कि जो क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न हुआ है उसका यह कर्तव्य है कि वह अध्ययन करे, यज्ञ करावे, दान दे, शस्त्र बल से अपनी आजीविका प्राप्त करे तथा प्राणियों की रक्षा करे[३]।

इस रूप में यदि देखा जाए तो शस्त्र से अपनी आजीविका प्राप्त करना और प्राणियों की रक्षा करने के जो कर्तव्य क्षत्रियों के लिए कहे गए हैं, वे अधिकतम मात्रा में राजा के लिए ही लागू होते हैं। और राजा के लिए जिसप्रकार की कठोर जीवनचर्या का प्राविधान करते हैं, वह राजा के लिए क्षत्रियधर्म के निर्वाह का एक रूप ही है। इसलिए सभी प्रकार से शुचिता का जीवन जीने वाले राजा के लिए अन्त में यह कह दिया गया है कि प्रजा का हित ही राजा का हित है। यह एक प्रकार से 'भूतरक्षणम्' की ही बात है जिससे प्राणियों की रक्षा हो।

---

१. हि०रा०तं०, पृ० ४६; कौ०यु०द०,पृ० ५१

२. कौ०अ०,पृ० ८२१

३. क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्राजीवो भूत रक्षणं च। वही, पृ० १८

वैश्य तथा उसके धर्म

वेद साहित्य में ऐसे संकेत हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि पशुओं की कामना करने वाले वैश्य होते थे और वे भी यज्ञ करते थे। जब देवगण पराजित हो गए और असहाय हो गए तो वे वैश्य की दशा को प्राप्त हुए[१]। इसी प्रकार से व्यापार करने वाले के लिए वणिक् शब्द का प्रयोग भी वहाँ पर हुआ है[२]।

वैदिक कालिक जीवन में कृषि और व्यापार दोनों का प्रचलन था, यद्यपि व्यापार का उतना विकसित स्वरूप नहीं हो सका जितना कृषि का हुआ था। कृषि के मूल में पशु-सम्पत्ति होती थी और वृषभों के द्वारा कृषि-कार्य किया जाता था। बैल हल चलाते थे और शकट खींचते थे। घोड़े रथ खींचने और दौड़ में काम आते थे। श्वान् रक्षा में रहते थे। इस प्रकार से इन सभी पशुओं के साथ-साथ अन्य पशुओं का पालन भी होता था[३]।

जिस कृषि क्षेत्र को हल से जोता जाता था वह उर्वरा भूमि होती थी। एक हल में छह, आठ और बारह तक बैल जोते जाते थे[४]। कृषि कार्य को जो कीड़े अथवा पक्षी आदि हानि पहुँचाते हैं और अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि से जो हानि पहुँचती है, उसका भी उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है[५]।

कृषि से जो अन्न उपजता था उसे यव और धान्य के नाम से जाना जाता था। एक उपनिषद् में दस तरह के धान्यों का उल्लेख किया गया है। ये हैं- ब्रीहि, यव, तिल, उड़द, गेहूँ, मसूर, चना, प्रियंगु, खल्व और खलकुल[६]।

---

१. पशुकामः खलु वैश्यो यजते। तै०सं० २/५/१०/२

२. ऋक् १/१२२/११

३. वही ४/१५/६; ८/२२/२

४. वही ८/६/४८; १०/१०१/४

५. वही १०/६८/१

६. बृ० उ० ६/३/१३

उपनिषदों में यह कहा गया है कि ब्रह्म जब विभूतियुक्त कर्म करने से असमर्थ हुआ, तब उसने वैश्य को उत्पन्न किया। इस सन्दर्भ पर आचार्य शंकर ने अभिमत व्यक्त किया। जिसके अनुसार उन्होंने लिखा है कि ब्रह्म ने कर्म के साधनभूत वित्तोपार्जन हेतु वैश्यों की रचना की। वैश्यों को गण रूप में कहते हैं। उनका मत है कि अनेक मिलकर ही वित्तोपार्जन कर सकते हैं, इसलिए वैश्यों को गण कहा गया है। गण अनेकता का सूचक है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म ने वित्तोपार्जन करने वाले वर्ग के लिए 'विश' की सृष्टि की जिसका कार्य व्यापार द्वारा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था[१]।

कृषि और व्यापार ही किसी समाज की समुन्नति में मूलरूप से हेतु होते हैं। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो वेद और वेदोत्तर काल में कृषि का पर्याप्त विकास हो चुका था और व्यापार का स्वरूप भी कम समुन्नत नहीं था। उपनिषद् काल में तो इसप्रकार के संकेत स्पष्ट थे कि उस समय कृषि कार्य अधिकतर वैश्यों के हाथ में था और वे ही इसमें अन्यों को अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय से इतर जनों को नियोजित करते थे[२]।

इस रूप में संकेत के अभिप्राय से यही कहा जा सकता है कि तब के समाज में वैश्य वर्ण का कार्य कृषि और व्यापार था और कृषि के विकास के साथ-साथ व्यापार का भी प्रचलन था। इन दोनों से समाज सम्पन्न हो रहा था।

---

१. स नैव व्यभवत स विशमसृजत यान्येतानि देव जातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रूद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। बृ० उ० १/१/११
स नैव व्यभवत, कर्मणे, ब्रह्म तथा न व्यभवत, वित्तोपार्जयितुरभावात्।
स विशमसृजत कर्मसाधनवित्तोपार्जनाय...। वही शां०, भा० १/४/११
२. उ०वै०स०सं०, पृ० ४८

आचार्य कौटिल्य ने जब विद्याओं की विवेचना की है तो उन्होंने अन्य विद्याओं के साथ-साथ वार्ता विद्या को भी एक विद्या के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि उन्होंने आचार्य वृहस्पति के मत का अनुसरण करने वालों के विचारों का उल्लेख करते हुए वार्ता को केवल लोक जीवन चलाने वाली विद्यामात्र न मानकर उसे जीवन की एक महत्त्वपूर्ण विद्या माना है[१]। वार्ता विद्या का परिचय देते हुए आचार्य कौटिल्य ने कृषि, पशुपालन और व्यापार को वार्ता विद्या के विषय के रूप में कहा है। यह विद्या धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थ तथा सेवक आदि को देने वाली परम उपकारिणी विद्या है। इसी विद्या से उपार्जित कोश और सेना से राजा स्वपक्ष और परपक्ष को अपने वश में करता है[२]।

आचार्य कौटिल्य वैश्यवर्ण के संबंध में यह कहते हैं कि वैश्य के कर्म हैं अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और व्यापार[३]। इन कर्मों के द्वारा ही वैश्य प्रतिष्ठित होता है।

कौटिल्य की दृष्टि से कृषि और वाणिज्य का पर्याप्त महत्त्च है क्योंकि वे कृषि कर्म को ठीक से सम्पादित करने के लिए यह निर्देश देते हैं कि इसके लिए राजा को कृषि विभाग का अध्यक्ष नियुक्त करना चाहिए। वह बीजों, भूमि और कृषकों के लिए उचित तथा श्रेष्ठ बीजों का संरक्षण करे एवं भूमि के अनुसार वर्षा आदि का विचार करता हुआ कृषि की योजना बनाए।

इसी प्रकार से कौटिल्य अर्थ-साधन जुटाने वाले व्यापार के विषय में भी सचेत हैं और तौल-भाव, यातायात आदि का विस्तार से संकेत करते हैं। उन्होंने क्रय-विक्रय आदि के नियमों का भी विस्तार से उल्लेख किया है[५]।

---

१. कौ०अ०, पृ० १०

२. कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादिऔपकारिकी। तथा स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम्।। वही, पृ० १५

३. वही, पृ० १२-१३

४. वही, पृ० २३८२३९

५. वही, पृ० ३६२-३६३; २६१

शूद्र तथा शिल्प

वैदिक साहित्य में जिस वर्ण व्यवस्था का संकेत है उसमें बहुत कम स्थानों पर स्पष्ट रूप से चार वर्णों का कथन किया गया है। इसमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में से जो प्रथम तीन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों से इतर हैं उनमें अनेक जातियों का कथन किया गया है जो शूद्र वर्ण के अन्तर्गत ही गिनी जा सकती हैं। इन जातियों के नाम को देखकर ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि इनके नाम इनके कर्म पर रखे गए हैं। जैसे बढ़ई[१], लोहार[२], चमार[३], कुलाल[४] आदि। ये जातियाँ या तो वंशानुगत मानी जा सकती हैं अथवा इनका व्यवहार इनके कर्म से माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त और भी ऐसे सन्दर्भ हैं जिनमें निषाद्, मागध[५] और सूत[६] आदि का उल्लेख है तथा इनको त्रिवर्ण से भिन्न रूप में कहा गया है। इन चार वर्णों के अतिरिक्त दास शब्द का प्रयोग भी हुआ जिसे कुछ विद्वान् पंचम वर्ण के रूप में स्वीकार करते हैं[७]।

बृहदारण्यक उपनिषद् में शूद्र की सृष्टि भी ब्रह्म द्वारा ही कही गई है। शूद्र को पूषन् कहा गया है जिसका अभिप्राय यह लिखा गया है कि वह अपने श्रम से समाज का पोषण करता है[८]।

वैदिक तथा वेदोत्तर काल की इसी स्थिति का संकेत हमें उन कथनों में मिलता है जिनमें यह कहा गया है कि वैश्य और शूद्र कृषि, वाणिज्य तथा शिल्प कार्य करें[९]। अथवा यह भी कहा गया है कि शूद्र द्विजों की शुश्रूषा और शिल्प कार्य करें[१०]।महर्षि मनु ने भी इसी कथन की पुष्टि की है और यह लिखा है कि शूद्र उन सभी कर्मों को करे, जिनके करने से द्विजातियों की सेवा होती है[११]।

---

१. ऋक् ७/३१/२०
२. वही १०/७२/५
३. वही ८/५/३८
४. शु०यजु० १६/२७
५. वही ३०/५
६. वही ३०/६
७. हि०स०, पृ० ६०
८. उ०स०सं०, पृ० ५५
९. वा०स्मृ० १/१६
१०. शं०स्मृ० १/५
११. म०स्मृ० ८/१००

कौटिल्य वर्ण व्यवस्था में शूद्रों का उल्लेख करते हैं और उनके लिए कार्य भी निर्धारित करते हैं। वे लिखते हैं कि इस वर्ण का मुख्य कार्य है द्विजाति की सेवा करना और वार्ता तथा शिल्प, गायन, वादन आदि के कार्य करना[१]। यहाँ पर यह विचार किया जा सकता है कि द्विजाति की सेवा का अभिप्राय सम्भवतः यह है कि शूद्र इन सभी के साथ मिलकर उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यों में अपना सहयोग करे। वार्ता और शिल्पादि कार्य करने का तो आचार्य कौटिल्य स्पष्ट निर्देश करते ही हैं।

वार्ता विद्या का तो स्पष्ट संकेत आचार्य कौटिल्य ने दिया ही है जिसमें कृषि और व्यापार सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने शिल्पकार्यों का विस्तार से परिचय दिया है। इसमें सामान्य कारीगर, जो लेनदेन का कार्य करते थे और गिरवी माल रखकर उधारी देने के कार्य में लगे थे। इसीतरह से जुलाहा, धोबी और दर्जी, सुनार, नट-नर्तक आदि को शिल्पकार्य करने वाला ही बताया गया है। आचार्य कौटिल्य ने इन सभी के कार्यों का विस्तार पूर्वक निरूपण किया है और सबसे बड़ी बात यह है कि उनके अनुसार सभी को अपने-अपने कर्तव्य का निर्वाह भली प्रकार तथा ईमानदारी से करना चाहिए। कौटिल्य यह चाहते हैं कि सभी लोग अपने कार्यों का सम्पादन इसलिए भली प्रकार करें क्योंकि उनकी दृष्टि में उनके कार्य ही धर्म हैं और अपने-अपने धर्म का पालन करना ही मनुष्य का कर्तव्य है[२]।

आचार्य कौटिल्य ने वैद्य को भी एक प्रकार से शिल्प कार्य करने वाला ही माना है और यह निर्देश किया है कि वैद्य के उपचार में यदि असावधानी हुई हो तो उसे समुचित दण्ड दिया जावे[३]।

---

१. शूद्रस्य द्विजाति शुश्रुषा वार्ता कारुकुशीलवकर्म च। कौ०अ०, पृ० १३

२. वही, पृ० ४२१-४२८

३. वही, पृ० ४२७

आश्रमों के प्रारम्भिक संकेत

आ उपसर्ग पूर्वक श्रमधातु से धञ् प्रत्यय लगाने पर आश्रम शब्द का निर्माण होता है जिसका अर्थ एक स्थान पर द्विज के जीवन की चार अवस्थाओं के रूप में दिया गया है। इन चार अवस्थाओं को वहाँ पर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्थ के रूप में लिखा गया हैं[१]। एक अन्य स्थान पर आश्रम शब्द से जो अर्थ लिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि श्रेय की कामना वाले जहाँ पहुँचकर श्रम मुक्त हो जाते हैं, वह आश्रम है। एक अन्य अर्थ यह भी है कि जिसमें कर्तव्य पालन के लिए पूर्ण परिश्रम किया जाता है वह आश्रम है[२]।

एक आचार्य ने यह मत दिया है कि आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभक्त किया जाता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम के द्वारा व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपलब्धि सहज में कर लेता है[३]।

वेद वाङ्.मय में यदि उन आश्रमों की स्थिति का अनुमान करना हो तो यह कहा जा सकता है कि वहाँ पर इन चारों आश्रमों की सूचना येन-केन रूप में दिखाई देती है। जैसे कि ऋग्वेद में ब्रह्मचारी की चर्चा है और यह कहा गया है कि आचार्य उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को अपना अन्तेवासी बनाता है। ब्रह्मचर्यव्रत के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है[४]।

इसी तरह से वेद गृहस्थाश्रम का संकेत भी स्पष्ट रूप से करते हैं। एक स्थान पर यह स्पष्टता के साथ कहा गया है कि गृहस्थ के मूल में पति और

---

१. सं०श०कौ०, पृ० २०६

२. हि०वि०को०, प्र०ख०, पृ० ४२७ पर उद्धृत

३. वै०सा०सं०द०, पृ० १७१

४. ऋक् १०/१०९/५; अथर्व ११/५/१; अथर्व ११/५/१९

पत्नी हैं, इसलिए पति और पत्नी को मिलकर रहना चाहिए[1]। इसीतरह से एक सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि इन्द्र स्त्री को सौभाग्यवती बनावें। स्त्री पुत्रवती बने[2]। इसी तरह से एक स्थान पर उत्तम वधू की प्रशंसा की गई है और यह कहा गया है कि जो वधू उत्तम आचरण की होती है, वह अपने आचरण से सास-ससुर, ननद, जेठ और देवर आदि पर अपना आधिपत्य जमा लेती है।

वानप्रस्थाश्रम के सम्बन्ध में यह कहना ठीक होगा कि तब सम्भवतः यह शब्द प्रचलन में नहीं आया था और इसके लिए वैखानस शब्द का प्रयोग होता था, जैसा कि अनेक इतिहास लेखक विद्वान् स्वीकार करते हैं। वैखानस का प्रयोग जिन मन्त्रों में ऋग्वेद में किया गया है, उसका संकेत श्री पी.वी.काणे महोदय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में किया है[4]।

संन्यासाश्रम के संबंध में भी ऋग्वेदादि वेदों में यत् किंचित् इसी प्रकार की स्थिति है। वहाँ पर भी संन्यास शब्द का स्पष्ट संकेत न कर मुनि शब्द का संकेत है। मुनि वे थे जो वायु का भक्षण कर पीले वस्त्र धारण करते थे। वे आकाश में उड़ने की शक्ति रखते थे और सभी कुछ देख सकते थे[5]।

---

१. ऋक् १०/८५/२३
२. वही १०/८५/२५
३. सम्राजी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राजी देवुषु अधि।। ऋक् १०/८५/४६
४. ध०इ० (१), पृ० ४८२
५. ऋक् १०/१३६/३; १०/१३६/४

आश्रमों का अभिप्राय एवं संख्या

आश्रम शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'आश्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः'- अर्थात् एक ऐसा जीवन जिसमें व्यक्ति पहुँचकर पर्याप्त श्रम करता है[१]। इसी प्रकार से एक अन्य सन्दर्भ में यह कहा गया है कि श्रेय की इच्छा करने वाला जहाँ पहुँचकर श्रम से मुक्त हो जाता है, उसे आश्रम कहा जाता है। अथवा आश्रम जीवन की वह स्थिति है जहाँ पर अपने कर्तव्य पालन के लिए पूर्ण श्रम किया जाए[२]।

आश्रमों की संख्या के सम्बन्ध में जो प्राचीन सन्दर्भ प्राप्त हैं, उनके विषय में यह कहा गया है कि इनकी संख्या चार थी[३]।

अथर्ववेद में एक स्थान पर ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग किया गया है और वहाँ पर यह कहा गया है कि आचार्य उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को अपना अन्तेवासी बनाता है क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी[४]।

ऋग्वेद में एक स्थान पर मुनि शब्द का वर्णन आया है और उसमें यह सूचित है कि वायु

---

१. ध०इ०(१) पृ० २६७

२. आश्रमाम्यन्ते श्रेयोऽर्थिनः पुरुषा इत्याश्रमः।
आश्राम्यन्त्यत्र अनेन वा।
यद् वा आसमन्तात् श्रमो वा स्वधर्मसाधनक्लेशात्। वै०सा०सं०, पृ० १७५

३. ऋक् १०/१०९/५

४. आचार्य उपनयनमानो ब्रह्मचारिणं वृणुते गर्भमन्तः। अथर्व ११/५/३

भक्षण करने वाले पिशंग मुनि होते हैं[1]। इसी प्रकार से एक स्थान पर मुनियों को देवों का मित्र कहा गया है जिससे यह प्रतीति होता है कि तब मुनियों की स्थिति थी[2]। एक स्थान पर यह कहा गया है कि मल से क्या लाभ, मृगचर्म, दाढी तथा तप से क्या मिलेगा? हे ब्रह्म! पुत्र की इच्छा करो, यह विश्व है जिसकी बड़ी प्रशंसा होगी[3]।

इस सन्दर्भ में मल से अभिप्राय गृहस्थाश्रम से और श्मश्रु से अभिप्राय संन्यासाश्रम से लिया जा सकता है[4]। और तब आश्रमों की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

उपनिषद् परम्परा में स्पष्टरूप में आश्रमों की अवस्थिति का संकेत किया गया है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि धर्म के तीन स्कन्ध हैं जिनमें प्रथम यज्ञ, अध्ययन एवं दान में है, दूसरा तप में है और तीसरा ब्रह्मचर्य में है। अर्थात् क्रम में प्रथम गृहस्थाश्रम, दूसरा वानप्रस्थ और तीसरा ब्रह्मचर्याश्रम है[5]।

---

१. मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मलाः। ऋक् १०/१३६/२
२. वही १०/१३६/४
३. किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः।। ऐ० ब्रा० ३३/११
४. ध०इ०, पृ० २६५
५. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य कुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। छान्दो० २/२३/१

जहाँ तक आश्रमों की संख्या का प्रश्न है तो उपनिषदों के समय में चार आश्रमों की स्थिति का संकेत प्राप्त होता है। जावालोपनिषद् में चारों आश्रमों की स्थिति का संकेत स्पष्ट रूप से किया गया है। जैसे कि वहाँ कहा गया है कि ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृही होवे, गृही होकर वनवासी बने और बनवासी के पश्चात् प्रव्रजित होवे[१]।

विविधस्मृतियों और उनकी टीकाओं में जो सन्दर्भ हैं, उनके अनुसार चार आश्रमों की प्रतिष्ठा का संकेत है और यह कहा जा सकता हैं कि स्मृतिकाल तक चारों आश्रम प्रतिष्ठित हो चुके थे। याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्रह्मचर्य आश्रम के लिए यह कहा गया है कि प्रत्येक वेद के लिए बारह अथव पांच वर्षों का कार्यकाल होता है। किसी के मत से यह विधान है कि विद्या ग्रहण के अन्त तक ब्रह्मचर्य का कार्यकाल होता है[२]। महर्षि मनु ने छत्तीस वर्ष, बारह वर्ष अथवा अठारह वर्षों की अवधि ब्रह्मचर्याश्रम के लिए निर्धारित की है[३]।

इसी प्रकार से ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् के काल को और गृही होने को गृहस्थधर्म में प्रविष्ट हुआ कहा गया है। महर्षि याज्ञवल्क्य और आचार्य मनु समान रूप से ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति पर गृहस्थ धर्म की स्थिति मानते हैं[४]। यही स्थिति वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम की भी है। मिताक्षराकार, मनु और महर्षि याज्ञवल्क्य समान रूप से वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम का संकेत करते हैं[५]।

---

१. ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत। जावा० ४

२. प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्चवा।
गृहणान्तिकमित्येके केशान्तश्चैव षोडशे।। या०स्मृ०, पृ० १४

३. मनु० स्मृ० ३/१

४. या० स्मृ० १/५१

५. मनु० स्मृ० ३/६७

६. या०स्मृ० एवं मिताक्षरा ३/४५; ३/५६; मनु०स्मृ० ६/३; ६/३३

आश्रम और उनके कर्तव्य रूप धर्म

धर्म शब्द की परवर्ती व्याख्या पर यदि ध्यान दिया जाए तो आरम्भ में अर्थात् वेदों और उपनिषदों में इसका निश्चयात्मक अर्थ करना कठिन कार्य है। प्रारम्भ में धर्म शब्द का प्रयोग सम्भवत: धार्मिक क्रियाओं के लिए प्रतीत होता है[१]। कहीं-कहीं पर धर्म शब्द का अर्थ निश्चित नियम और व्यवस्था सम्बन्धी भी किया जा सकता है[२]।

उपनिषद् में, जहाँ धर्म के तीन लक्षण करते हुए यज्ञ, अध्ययन तथा दान, तपस्या अर्थात् तापस भाव और ब्रह्मचारित्व कहा गया है, वहाँ धर्म से कर्तव्य का बोध होना माना जा सकता है। यज्ञ, अध्ययन और दान गृहस्थ के लिए कर्तव्य रूप कहे जा सकते हैं। तपस्या तपस्वी के लिए कर्तव्य रूप ही है और ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मचर्य का पालन भी उसका कर्तव्यरूप धर्म ही है[३]।

इसी प्रकार से उपनिषद् में जब शिक्षा पूर्ण करने पर ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश की अनुमति दी जाती थी तब उसका समावर्तन संस्कार करते हुए स्पष्ट कहा जाता था कि धर्म का आचरण करो, सत्य बोलो और जो हमारे सुचरित हैं उनका ही अनुकरण करो[४]।

यही प्रारम्भ संकेत धर्म के रूप में कर्तव्य के वाचक हुए और बाद में वर्णों के लिए जिन कर्तव्यों का कथन किया गया, उन्हें उनके धर्म भी कहा जा सकता है।

---

१. ऋक् १/२२/१८; ७/४३/२४

२. आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवाः कृणुते स्वायधर्मणे। ऋक् ४/५३/३
द्यावा प्राथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कम्भिते अजरे भूमिरेतसा। वही ६/७०/१

३. छान्दो० २/२३/१

आश्रमों के प्रारम्भिक संकेत देते समय यह कहा जा चुका है कि वेदों में यद्यपि आश्रमों के संकेत हैं किन्तु पूरी आश्रम व्यवस्था व्यवस्थित नहीं है। इसीतरह से उपनिषदों में भी स्पष्ट रूप से चारों आश्रमों का बहुत अधिक वर्णन नहीं है। जो है, वह कहीं-कहीं स्पष्ट तो कहीं पर संकेत रूप में ही ग्रहणीय है।

जहाँ तक चारों आश्रमों के प्रारम्भिक कर्तव्यों का संकेत है तो इस सन्दर्भ में भी यही कहा जा सकता कि हम ब्रह्मचारी, गृहस्थ और किसी रूप में मुनि के कर्तव्यों का संकेत पा सकते हैं। जैसे कि एक स्थान पर अध्ययन करने वाले विद्यार्थी जीवन की प्रशंसा की गई है और कहा गया है कि वह सायंकाल सन्ध्या में अग्नि में समिधा डाले[१]। इसका अर्थ यह हुआ कि अध्ययन और सन्ध्या वंदनादि ब्रह्मचारी के लिए कर्तव्य हैं।

गृहस्थधर्म के संकेत भी वेद में हैं। उदाहरणार्थ विवाह विधि से पत्नी प्राप्त करना और पालन-पोषणके लिए अपनी सन्तान को अपना धन पिता को देना चाहिए[२]। उपनिषदें भी इसी प्रकार से संकेत करती हैं और अध्ययन ब्रह्मचारी के लिए दम, दया और दानादि के कर्मों का संकेत गृहस्थ के लिए करती हैं। गृहस्थ को यह भी कर्तव्य बताती हैं कि वे सन्तत्ति की परम्परा का उच्छेद न होने देवें[३]। इसी प्रकार से उपनिषदें अरण्यवास तथा प्रव्रज्या के कर्तव्यों का भी संकेत करती हैं। इसमें कहा गया है कि अरण्यवासी भिक्षाचरण से अपना जीवन निर्वाह करे[४]। जो अन्तिम अवस्था में प्रव्रजित होवें वे संसार की सभी प्रकार की एषणाओं का त्याग करके अपना जीवन पूर्ण करें[५]।

---

१. ऋक् १०/१०६/५; श०ब्रा० ११/५/४/१८
२. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय। ऋक् १०/८५/३६; तै०सं० २/५/२/७
३. प्र०उ० १/१; तै०उ० १/११/१
४. मु०उ० १/२/११
५. बृह० उ० ३/५/१

कौटिल्य एवं आश्रम व्यवस्था

आचार्य कौटिल्य ने अपने पूववर्ती आचार्यों की ही भाँति चार आश्रमों की स्थिति को स्वीकार किया है और यह माना है कि ये आश्रम मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में उन्नति के हेतु हैं। वे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम में प्रवेश करने वाले व्यक्ति के लिए उनके कर्तव्य रूप धर्म का कथन करते हैं। उनके वर्णन में एक विशेष बात यह देखने को मिलती है कि पहले गृहस्थ के कर्तव्यों का कथन करते हैं और बाद में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का कथनकर वानप्रस्थाश्रम और परिव्राजक के कार्यों का उल्लेख करते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे कालिदास की उस दृष्टि से सहमत हैं जिसमें कालिदास ने गृहस्थाश्रम की महत्ता का संकेत करते हुए यह लिखा है कि आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ है क्योंकि अन्य तीन आश्रम अपना जीवन चलाने के लिए गृहस्थ पर ही निर्भर हैं[१]।

कौटिल्य गृहस्थ आश्रम का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि वह अपनी परम्परा के अनुकूल कार्यों द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करे। सगोत्र तथा असगोत्र समाज में विवाह करे, ऋतुमती स्त्री का संसर्ग करे। देव, पितर, अतिथि और सेवकों को भोजन देकर ही भोजन करे।

ब्रह्मचारी का धर्म है कि वह नियमित स्वाध्याय करे, अग्निहोत्र करे, नित्य स्नान करे, भिक्षाटन करे, जीवन पर्यन्त गुरु की उपासना करे, गुरु की अनुपस्थिति में गुरु पुत्र अथवा किसी समानाध्यायी का आश्रय लेवे। इसी प्रकर से वानप्रस्थाश्रमवासी को चाहिए कि वह ब्रह्मचर्य का पालन करे, भूमि पर शयन करे, जटा और मृगचर्म धारण करे, अग्निहोत्र करे, देव, पितर, अभ्यागतों की सेवा करे और वन में रहता हुआ कन्द-मूल फलों पर निर्भर रहे[३]।

---

१. कौ०अ०, पृ० १३; अ०शा०, पृ० ६

२. कौ०अ०, पृ० १३

३. वही, पृ० १३

आचार्य कौटिल्य ने परिव्राजक के सम्बन्ध में यह लिखा है कि वह जितेन्द्रिय होवे, किसी भी सांसारिक कार्य में उसकी प्रवृत्ति न आकार ग्रहण करे जिससे जीवन यात्रा चल सके। वह समाज का आश्रय न ले और समाज के बीच में न रहे। वह अपना ऐसा स्वभाव बनावे कि वन में भी उसके साथ समूह न हो तथा अकेले ही रहे। उसे चाहिए कि वह मन, वचन और कर्म से स्वयम् को सदा पवित्र बनाए रहे[१]।

इस रूप में आचार्य कौटिल्य अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही चारों आश्रमों के कर्तव्यों का कथन करते हैं और उनके लिए अपने कर्तव्य-पालन का महत्त्व इसलिए कहते हैं कि आश्रम व्यवस्था का पालन करने से तथा पवित्र आर्य मर्यादा में अवस्थित रहने से, वर्णाश्रम धर्म में नियमित रहने से, त्रयी धर्म से रक्षित प्रजा दुखी नहीं होती और वह सदासुखी रहती है[२]।

आश्रम व्यवस्था का पलान कठोरता पूर्वक हो इसके लिए आचार्य कौटिल्य ने और भी नियम कहे हैं तथा यह संकेत किया है कि कोई व्यक्ति समर्थ होने पर गृहस्थ होकर यदि अपने पुत्रों, पत्नियों, माता-पिता आदि का पालन ठीक से न करे तो राजा को चाहिए कि राजा उसे दण्डित करे। गृहस्थ को अपने कर्तव्य का पालन करना ही चाहिए अन्यथा वह दण्ड का भागीदार होता है। इसी तरह से वह लिखते हैं कि कोई व्यक्ति यदि पुत्रों तथा स्त्री आदि के जीवन-निर्वाह का उचित प्रबन्ध किए बिना संन्यास ग्रहण कर लेवे, तो ऐसे व्यक्ति को भी राजा को दण्डित करना चाहिए। अर्थात् सभी के लिए कर्तव्य पालन का महत्त्व है।

---

१. परिव्राजकस्य संयतेन्द्रियत्वमनारम्भो निष्किञ्चनत्वं संगत्यागो भैक्षमनेकत्रारण्यवासो वाह्याभ्यन्तरं च शौचम्। कौ०अ०, पृ० १३

२. व्यवस्थितार्यमर्यादा कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्याहि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति।। वही, पृ० १४

परिवार व्यवस्था

शान्तिमय जीवन जीने के लिए व्यक्ति का कौटुम्बिक जीवन सुखमय होना ही चाहिए। वेदयुगीन कुटुम्ब में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, वधू आदि थे। वैदिक कालीन कुटुम्ब सुखी था। एक स्थान पर परिवार की सुखमय स्थिति का वर्णन करते हुए यह लिखा गया है कि सहृदयता, मन में शुभविचारों की प्रतिष्ठा, पारस्परिक प्रेम हम सभी कुटुम्बीजन सदस्य वैसे ही करें जैसे गाय अपने बछड़े के प्रति करती है। पुत्र माता-पिता के प्रति और पत्नी पति के प्रति करती है। पुत्र माता-पिता के प्रति और पत्नी पति के प्रति मधुर और शान्तिपूर्ण बातचीत करे। भाई का भाई के प्रति द्वेष न हो और बहिन-बहिन से द्वेष न करे। एक मति और कर्म वाले होकर सभी परस्पर मधुर भाषण करें। वृद्धों को मान देने वाले, उत्तम मन वाले, फल प्राप्ति तक प्रयत्न करने वाले, एक धुरी के नीचे कार्य सम्पादन करने वाले और आगे बढ़ने वाले बनो। परस्पर वैर न करो। प्रेम पूर्वक बातचीत करो। मैं तुम सबको मिलकर काम करने वाला और उत्तम विचार वाला बनाता हूँ[१]।

इसी प्रकार से बृहदारण्यक में एक स्थान पर कुटुम्ब के प्रेम को अपने लिए उपयोगी बनाते हुए पति, पत्नी, पुत्रादि के प्रति सौहार्द का उल्लेख किया गया है[२]।

कुटुम्ब में माता और पिता की जो मर्यादा और श्रेष्ठता तब थी, उसी के अनुरूप मातृदेवो भव और पितृदेवो भव कहा गया है जिसमें माँ को देवी रूप और पिता को देवतारूप बताया गया है[३]। महाभारत कहता है कि माता और पिता दोनों पूज्य हैं और आचार्य मनु यह लिखते हैं कि माता गृह की लक्ष्मी है[४]। किन्तु इस रूप में परिवार का कथन करने पर भी पिता, पुत्र और पत्नी आदि के लिए कुछ अधिकार और कर्तव्यों का कथन भी किया गया है।

---

१. अथर्व० ३/३०/१-५

२. वही २/४/५

३. ई०ब्रा० उ०, पृ० ८१-८२

४. म०भा०शां० १०६/३; म०स्मृ० ६/२६

पिता-पुत्र, पत्नी के अधिकार और कर्तव्य

पिता के सम्बन्ध में जो अधिकार और उसके कर्तव्यों को लेकर लिखा गया है उसमें यह कहा गया है कि वह मुख्य रूप से पुत्र के भरण-पोषण का उत्तरदायी है[१]। किन्तु इसके साथ पुत्र की शिक्षा भी पिता के ही अधिकार में होती थी। वह अन्तिम समय में पुत्र को सभी कुछ सौंपकर मुक्त हो जाता था[२]।

आचार्य कौटिल्य ने राजा को प्रजा का आदर्श माना है और यह संकेत किया है कि जैसा राजा करता है, प्रजा भी उसी प्रकार का आचरण करती है। इस रूप में यदि हम पिता के रूप में राजा के कर्तव्य का अध्ययन करें तो कौटिल्य उन सभी पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों का खण्डन करते हैं जिनसे राजा का अपने पुत्रों के प्रति क्रूर व्यवहार झलकता है। आचार्य कौटिल्य का यह मत है कि राजा अपने पुत्रों का विधिवत पालन करे और विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा उनका संस्कार करावे। जब वे समझने योग्य हो जावें तो विभिन्न विषयों के आचार्य राजपुत्रों को शिक्षित करें[३]। कौटिल्य राजा के लिए यह निर्देश करते हैं कि अनेक प्रिय पुत्रों में राजा ज्येष्ठ पुत्र को अपना उत्तराधिकार देवे। और यदि ऐसा न हो सके तो सभी भाई मिलकर राज्य कार्य चलावें[४]। सामान्य जन के लिए आचार्य कौटिल्य का यह निर्देश है कि पुत्र तथा स्त्री का जीवन-निर्वाह का उचित प्रबन्ध किए ही यदि कोई पुरुष संन्यास धारण कर लेवे तो राजा उसे दण्डित करे। और इसी प्रकार से यदि कोई पुरुष इस प्राकर का काम करे जिससे कोई स्त्री संन्यासिनी होने के लिए बाध्य हो जावे तब भी राजा को उस पुरुष को दण्डित करना चाहिए जो ऐसा करता है और पुत्रादि के भरण-पोषणादि के अपने दायित्व को पूर्ण नहीं करता है[५]।

---

१. छा०उ० ५/३/१
२. कौ०उ० २/१५
३. कौ०अ०, पृ० ६६
४. वही, पृ० ७०
५. वही, पृ०६७

प्राचीन कथनों में एक कथन इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि यह मनुष्य लोक पुत्र के द्वारा ही तप करने योग्य है[१]। अर्थात् पुत्र का आश्रय लेकर ही कोई भी अपना जीवन ठीक से चला सकता है। इसी प्रकार से पुत्र का इतना अधिक महत्त्व था कि पुत्र दुखी न हो, इसके लिए तब संस्कारों का विधान किया गया था[२]।

आचार्य कौटिल्य तो पुत्र को इतना महत्त्व देते हैं कि वे लिखते हैं कि पुत्र यदि गुणवान् है तो परिवार स्वर्ग बन जाता है। इसलिए पुत्र को सभी विद्याओं में पारङ्गत बनाना चाहिए। पुत्रलाभ उनकी दृष्टि में सर्वोच्च लाभ है। दुर्गति से रक्षा करने वाला पुत्र ही होता है। सुपुत्र से ही कुल की ख्याति होती है[३]। इसी दृष्टि से कौटिल्य ने पुत्र के लिए संस्कार और शिक्षा देने की बात राजा के लिए भी लिखी है। राजा पुत्र के अनुकूल रहे और यदि उसे धन आदि की कमी हो तो मणि, मुक्ता, स्वर्णादि का विक्रय करके उसे प्राप्त कर ले[४]।

पति और पत्नी का सम्बन्ध पुराने समय में बहुत ही महत्त्व का सम्बन्ध था। इसलिए जहाँ पति को एक पत्नी व्रत का पालन करने का संकेत है वहीं आचार्य कौटिल्य भी ऐसा ही लिखते हैं जिसमें वे यह लिखते हैं कि स्त्री के लिए पति से बढ़कर कोई देवता नहीं है। पति की इच्छानुसार चलने वाली स्त्री इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त करती है[५]।

वे यह लिखते हैं कि स्त्री का आभूषण लज्जा है। गुरुजनों में माता सर्वोच्च है। इसलिए माता-पिता का भरण-पोषण करना चाहिए[६]। स्त्री की इसी मर्यादा को ध्यान में रखकर कौटिल्य ने उसके अधिकारों और कर्तव्यों का कथन इस रूप में किया है कि वह एक सीमा तक स्वतंत्र है किन्तु उच्छृङ्खल आचरण करने पर दण्ड देने योग्य भी है[७]।

---

१. बृ० उ० १/५/१६
२. कौ० उ० २/८,१०
३. कौ०अ०, पृ० ६७१
४. वही, पृ० ७१-७३
५. वही, पृ० ६७६
६. वही, पृ० ६७०
७. वही, पृ० ३३१-३३३

विवाह सम्बन्ध

वैदिक परम्परा के अनुसार गृहस्थ के लिए पत्नी का होना आवश्यक है[1]। देव पूजन के लिए भी पति और पत्नी का सहयोग चाहिए। क्योंकि पुत्ररूप में पिता स्वयम् जन्म ग्रहण करता है इसलिए अपनी अमरता के लिए भी पुरुष पत्नी प्राप्त करके पुत्र उत्पन्न करता है[2]। एक स्थान पर यह कहा गया है कि पत्नी-पति की अर्धाङ्गिनी है। और जब तक पुरुष पत्नी सहित नहीं होता, तब तक वह पूर्ण नहीं होता[3]। विवाह के बिना वैदिक यज्ञों का सम्पादन भी नहीं किया जा सकता[4]।

स्मृति परम्परा में आचार्य मनु ने यह लिखा है कि गुरु से प्राप्त आशीर्वाद से अपने ग्रहण किए हुए सूत्र से समावर्तन संस्कार से युक्त होकर अपने वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करे[5]। इसी प्रकार से याज्ञवल्क्य भी विवाह का विधान करते हैं कि ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हुए शुभ लक्षणों से युक्त कन्या से विवाह करे। विवाह उस कन्या से करना चाहिए जो पहले से विवाहित न हो और सुन्दरी होवे[6]।

विवाह संस्कार की व्यवस्था कितनी प्राचीन है इसके विषय में अनेक विद्वानों ने विचार किया है और अपने-अपने दृष्टिकोण से अपने मत व्यक्त किए हैं। जिन कुछ मान्यताओं में यह कहा गया है कि स्त्री और पुरुषों के सम्बन्ध पूर्व में असंयमित थे और उनका यौनिक जीवन नियमबद्ध नहीं था, अब वह मान्यता भी पूरी तरह से मान्य नहीं है। इस प्रकार की मान्यता से अनेक विद्वान् असहमत हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विवाह-सम्बन्ध की परिकल्पना इस देश की प्राचीनतम कल्पना है।

---

१. ऋक् १०/४५/३४; ५/२८/३
२. ऐ०ब्रा० ७/३
३. श०ब्रा० ५/२/१/१०
४. तै०सं० ६/३/१०/५
५. म०स्मृ० ३/४
६. या०स्मृ० ३/५२
७. मै०पा०प्र०, पृ० १०

आचार्य कौटिल्य ने विवाह की महत्ता को जिस रूप में कहा है उसके अनुसार वे यह मानते हैं कि विवाह के बाद ही संसार के सारे व्यवहार प्रारम्भ होते हैं[१]। वे यह भी मानते हैं कि जो स्त्री सन्तान को जन्म देती है, वह भार्या है और सन्तान को जन्म देना उसकी सार्थकता है[२]।

आचार्य कौटिल्य ने पूर्व परम्परा का अनुसरण करते हुए ही आठ प्रकार के विवाहों का संकेत किया है। ये विवाह हैं- ब्राह्म विवाह, प्राजापत्य विवाह, आर्ष विवाह, दैव विवाह, गान्धर्व विवाह, आसुर विवाह, राक्षस विवाह और पिशाच विवाह। इनमें से जिस विवाह में विधि पूर्वक कन्यादान होता है, वह ब्राह्म विवाह, जिसमें दोनों सहमत होकर सहधर्म निर्वाह का वचन देते हैं, वह प्राजापत्य विवाह, गोदान देकर जो विवाह होता है वह आर्ष विवाह, ऋत्विक को जो यज्ञ वेदी में बैठकर कन्यादान होता है वह दैव विवाह और कन्या तथा वर आपसी सलाह से विवाह करते हैं वह गन्धर्व विवाह कहा जाता है। जिस विवाह में कन्या के पिता को धन दिया जाता है वह आसुर विवाह, जिसमें कन्या के साथ दुराचरण के बाद विवाह होता है वह राक्षस विवाह और जिसमें कन्या का अपहरण करके विवाह किया जाता है वह विवाह पैशाच विवाह कहा जाता है[३]।

आचार्य कौटिल्य की ही तरह से महर्षि मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने भी इन आठों विवाहों का उल्लेख किया है[४]। इन आठों विवाहों में प्रथम चार को महनीय इसलिए माना गया है क्योंकि इसमें पिता-माता की भूमिका धर्मानुसार रहती है। यद्यपि गान्धर्व विवाह भी हीन नहीं था क्योंकि दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह गान्धर्व विवाह ही था। आसुर, राक्षस और पिशाच विवाह को अच्छा नहीं माना गया है और इस प्रकार के विवाह सम्बन्धों की निन्दा आचार्य कौटिल्य भी करते हैं। यद्यपि वे लड़की को देकर धन लेने की अनुमति देते हैं[५]।

---

१. विवाहपूर्वो व्यवहारः। कौ०अ०, पृ० ३२०

२. वही, पृ० ६७१

३. वही, पृ० ३२०-३२१

४. म०स्मृ० ३/२१; या०स्मृ० १/५८; म०भा०आदि० १०२/१२-१५

५. कौ०अ०, पृ० ३२१

वर्तमान समय में जो सामाजिक व्यवस्था है, उसमें हम यह देख सकते हैं कि ब्राह्म विवाह तो हो रहे हैं क्योंकि कन्यादान की परम्परा चल रही है। कहीं-कहीं कन्यापक्ष से शुल्क लेने की परम्परा भी प्रचलित है, जिसे आसुर विवाह के रूप में देखा जा सकता है। इसी तरह से आजकल जो 'लव मैरिज' हो रही हैं, वे एक प्रकार से गान्धर्व विवाह के रूप में देखी जा सकती हैं। शेष विवाह के रूप दिखाई नहीं देते।

स्त्री-धन

स्त्री धन के सन्दर्भ में प्राचीन समय से ही किसी न किसी प्रकार के संकेत मिलते रहे हैं। जैसे कि सूत्रकार यह लिखते हैं कि आभूषण पत्नी का होता है और वह सम्पत्ति भी उसी की होती है जिसे वह अपने सम्बन्धियों से पाती है[१]। एक अन्य सूत्रकार भी इसी प्रकार से अपना मत व्यक्त करते हैं जिसमे वे यह कहते हैं कि कन्या जो अपनी माता से आभूषण पाती है और परम्परा से उन्हें मिलना चाहिए, वह भी उन्हें मिलता है[२]। एक सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह कहा गया है कि माता को जो कुछ विवाह के समय मिला है उसे कन्याओं को बाँट लेना चाहिए[३]।

आचार्य मनु ने स्त्री धन की चर्चा करते हुए यह लिखा है कि विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो कुछ दिया गया, विदाई के समय जो कुछ दिया गया, स्नेहवश जो कुछ दिया गया, जो भ्राता, माता-पिता से प्राप्त हुआ- यह सभी स्त्री धन है[४]। याज्ञवल्क्य ने यह लिखा है कि पिता, माता, पति, भ्राता अथवा अग्नि के समक्ष प्राप्त जो धन है, वह स्त्री धन है[५]। पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्त्री धन के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं और उनके विचार भी भारतीय प्राचीन विचारों के समकक्ष ही हैं[६]।

---

१. आ०ध०सू० २/६/१४/९

२. बौ०ध०सू० २/२/४६

३. व०ध०सू० १७/४६

४. म०स्मृ० ९/१९४

५. या०स्मृ० २/१४३-१४४

६. हि०मै०, पृ० ३१९-५१९; टै०ला०ले०, पृ० २२६-२७०

आचार्य कौटिल्य भी स्त्रीधन के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं और वे स्त्री-धन को दो प्रकार का बताते हैं। उनकी दृष्टि से स्त्री धन दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का धन वृत्ति कहा जाता है और दूसरे प्रकार का धन आवध्य कहा जाता है। जो धन दो हजार की सीमा तक सुरक्षित रखा जाए अथवा किसी कोषागार आदि में निक्षेपित हो तो उस धन को स्त्री धन कहते हैं[१]।

आवध्य अथवा आबन्ध्य स्त्री धन स्त्री के पास रहने वाले उन गहनों या जेवरों का नाम है जिनकी कोई सीमा नहीं होती है।

स्त्री को अपने स्त्री धन को व्यय करने का अधिकार कौटिल्य ने दिया है और यह लिखा है कि किसी स्त्री का पति यदि परदेश चला जाए तो वह स्त्री अपने पुत्र और बहू के जीवन निर्वाह के लिए अपने स्त्री धन को खर्च कर सकती है। इसीप्रकार से किसी बीमारी, विपत्ति अथवा दुर्भिक्ष के समय यदि पति स्त्री के स्त्री धन को व्यय करता है तो उसे दोष नहीं माना जाएगा। इसी प्रकार से दो सन्तान उत्पन्न होने पर यदि स्त्री और पुरुष दोनों ही सहमति से उस धन को व्यय करते हैं तब भी कोई दोष नहीं है[२]।

गान्धर्व विवाह अथवा आसुर विवाह के सम्बन्ध में आचार्य का यह दृष्टिकोण है कि इस प्रकार से जिन्होंने विवाह किया हो और यदि वे स्त्री धन खर्च डालें तो उनसे ब्याज सहित मूल धन जमा कराया जावे। इसी प्रकार से राक्षस और पैशाच विवाह वालों के लिए विधान है कि इस प्रकार से विवाह किए हुए दम्पत्ति यदि स्त्री धन को खर्च डालें तो उन्हें चोरी करने वालों के बराबर दण्ड दिया जावे[३]।

---

१. वृत्तिराबन्ध्यं वा स्त्रीधनम्। परद्विसाहस्त्रा स्थाय्या वृत्तिः। आबन्ध्यानियमः। कौ०अ०, पृ० ३२१
२. कौ०अ०,पृ० ३२२
३. वही, पृ० ३२२

स्त्री तथा पुरुष पुनर्विवाह का अधिकार

आचार्य कौटिल्य ने स्त्री के पुनर्विवाह के अधिकार को स्वीकार किया है। इसके लिए उन्होंने यह निर्देश दिया है कि कोई स्त्री यदि पति के मर जाने के बाद दूसरे पति से विवाह कर ले तो उसने जो धन प्राप्त किया था, उसे ब्याज सहित वापिस कर दे। इसी प्रकार से यदि कोई स्त्री अपने ससुर की इच्छा के विरुद्ध पुनर्विवाह करना चाहे तो वह मृत पति के धन से वंचित हो जाती है। जिस स्त्री ने अपने पति के मृत्युके उपरान्त अपना पुनर्विवाह करना चाहा हो वह अपने मृत पति की सम्पत्ति का अधिकार नहीं पा सकती।

स्त्री के विवाह के अधिकार का विशद व्याख्यान आचार्य ने वहाँ पर किया है, जहाँ पर यह कहा है कि शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण की स्त्रियों के पति यदि विदेश गए हों और वे एक निर्धारित समय तक वापस न आवें, तो उसके परिवार के सदस्यों को चाहिए वे उस स्त्री का दूसरा विवाह कर देवें[२]।

कौटिल्य ने स्त्री के अधिकार में एक विचित्र और स्वच्छन्दता की सीमा तक का अधिकार यह लिखा है कि स्त्री यद्यपि राजकार्य से बाहर गए पति की प्रतीक्षा आयु पर्यन्त करे तथापि यदि किसी स्त्री का संयोग अपने समान वर्ण वाले पुरुष से हो जाए और उससे सन्तान हो जाए तो उसे निन्दनीय नहीं माना जाता[३]।

आचार्य कौटिल्य स्त्री के शरीर धर्म की समय पर पूर्ति को धर्म मानते हैं इसलिए वे यह लिखते हैं कि ऋतुकाल में स्त्री को पुरुष का सहवास न मिलना

---

१. कौ०अ०,पृ० ३२२-३३३

२. वही, पृ० ३३४

३. ब्राह्मणमधीयानं दशवर्षाण्यप्रजाता, द्वादश प्रजाता। राजपुरुषं वा आयुःक्षयादाकांक्षेत्। सवर्णतश्च प्रजाता नापवादं लभेत। वही, पृ० ३३४

धर्मनाश के बराबर अमंगलकारी है। इसलिए एक निश्चित समय पर ऐसा न होने पर कोई भी स्त्री धर्माधिकारी से आज्ञा लेकर अपना दूसरा विवाह कर सकती है[१]।

कौटिल्य के अनुसार स्त्री अपने देवर के साथ पुनर्विवाह करने का अधिकार रखती है और इस सम्बन्ध में कौटिल्य यह लिखते हैं कि जब स्त्री के लिए पुनर्विवाह करना आवश्यक हो जाए तो वह अपने देवर के साथ विवाह कर सकती है और यदि उसके कई देवर हों तो उनमें से जो सबसे जेठा हो, उसके साथ विवाह करे। निरुक्त में तो देवर की व्याख्या में 'द्वितीयोवरः देवरः' तक कहा गया है। यदि उसके पति का सगा भाई न हो तो किसी पारिवारिक देवर के साथ और उसके भी न होने पर सजातीय पुरुष तथा समीपी गोत्र वाले के साथ विवाह कर लेना चाहिए[२]।

स्त्री के पुनर्विवाह में इतना प्रतिबन्ध अवश्य आचार्य कौटिल्य ने लगाया है जिसमें यह कहा है कि वह पति की सम्पत्ति के हकदार पुरुष से इतर किसी से विवाह न करे अन्यथा वह दण्ड की भागीदार समझी जावेगी[३]।

विधवा और विधवा जीवन के सन्दर्भ प्राचीन परम्परा में भी मिलते हैं और उनके जीवन पर तथा उनके पुनर्विवाह के अधिकार पर प्रकाश पड़ता है। प्राचीन समय में विवाह के साथ नियोग की प्रथा का संकेत भी किया गया है। यद्यपि उसके लिए पर्याप्त कठोर नियम कहे गए हैं किन्तु यह प्रथा तब की पुत्रोत्पत्ति के लिए एक प्रसिद्ध प्रथा थी[४]।

इस तरह जिस प्रकार से स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार था उसी तरह से प्राचीन समय में कुछ सन्दर्भ ऐसे भी हैं जिनसे यह संकेत मिलता है

---

१. ततः परं धर्मस्थैर्विसृष्टा यथेष्टं विन्देत। तीर्थोपरोधो हि धर्मवध इति कौटिल्यः। कौ०अ०, पृ० ३३५

२. वही, पृ० ३३६

३. एतानुत्क्रभ्य दायादान् वेदने जातकर्मणि।
जारस्त्रीदातृवेत्तारः सम्प्राप्ताः संग्रहात्ययम्।। वही, पृ० ३३६

४. हि०ह्यू० मै०, पृ० २०६-२२०

कि पुरुष और स्त्री दोनों को ही यह अधिकार प्राप्त था कि वे विशेष स्थितियों में एक-दूसरे का परित्याग कर सकते थे। जैसे कि पुरुष के लिए यह लिखा गया है कि उसकी पत्नी यदि पुत्र न जनती हो और वह मृत बच्चे ही उत्पन्न करती होवे तो पति एक निश्चित समय तक प्रतीक्षा करने के बाद उसका परित्याग करके अपना पुनर्विवाह कर सकता है[१]।

इसी प्रकार कौटिल्य स्त्री के लिए यह लिखते हैं कि किसी भी नीच, प्रवासी, राजद्रोही, घातक, जाति और धर्म से गिरे हुए तथा नपुसंक पति से वह विवाह विच्छेद कर सकती है[२]।

कौटिल्य के ये संकेत संकेतात्मक ही समझ में आते हैं क्योंकि प्राचीन परम्परा में यह मान्यता थी कि सहज में पति और पत्नी का सम्बन्ध नहीं छूट सकता। आचार्य मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ही समान रूप से ऐसा ही संकेत करते हैं[३]।

आचार्य कौटिल्य भी इसका संकेत इस रूप में स्वीकार करते हैं जिस रूप में वे कहते हैं कि पति से द्वेष रखने वाली स्त्री, पति की इच्छा के विरुद्ध तलाक नहीं दे सकती। इसी प्रकार से पति भी अपनी पत्नी को तलाक नहीं दे सकता। यह तभी सम्भव है जब पति और पत्नी समान रूप से दोषी हों। अर्थात् पति के समान ही जब पत्नी भी दोषी हो तभी तलाक सम्भव है[४]।

---

१. कौ०अ०, पृ० ३२४
२. वही, पृ० ३२५
३. म० स्मृ० ९/१०१; ९/४६; या०स्मृ० मिता० १/७७
४. अमोक्ष्या भर्तुरकामस्य द्विषती भार्या। भार्यायाश्चभर्ता। परस्परं द्वेषान्मोक्षः। वही, पृ० ३२८

पति-पत्नी का अतिचार और उसका प्रतिषेध

भारत की प्राचीन परम्परा में पति और पत्नी को गृहस्थी रूपी रथ के दो पहिए के रूप में माना गया है और यह कहा गया है कि इसमें से यदि एक भी पहिया ठीक से काम नहीं करेगा तो गृहस्थी की गाड़ी ठीक से नहीं चल सकती। इसीलिए सम्पूर्ण परम्परा में पति और पत्नी के जीवन के लिए कुछ सिद्धान्त भी निश्चित किए गए हैं जिनका पालन करना दोनों के लिए आवश्यक है।

आचार्य कौटिल्य ने भी इसी परम्परा का ध्यान रखते हुए पति तथा पत्नी के आचार-व्यवहार का कथन किया है और इनके लिए यह कहा है कि पति और पत्नी में से यदि कोई आचार हीनता का आचरण करता है तो वह दण्ड का भागीदार होता है।

आचार्य पत्नी के लिए लिखते हैं कि कोई पत्नी यदि मना किए जाने पर भी अहंकार के वशीभूत होकर मद्यपान करती है और अनियन्त्रित विहार करती है तो वह दण्ड देने के योग्य है। यदि वह कभी अपने सोते हुए पति को, चाहे वह भले ही उन्मत्त की अवस्था में हो, छोड़कर चली जाती है तब भी वह दण्ड पाने की हकदार है। इसी तरह से आचार्य कौटिल्य यह लिखते हैं कि कोई स्त्री यदि अपने पति को रात्रि में घर से बाहर निकाल दे अथवा जबरदस्ती अपने घर का दरबाजा बन्द करके उसे बाहर कर दे तो भी उसे दण्ड दिया जाना चाहिए[1]।

स्त्री और पुरुष का सम्पर्क भी ठीक माना जाता है जब वे दाम्पत्य जीवन से बंधे हुए होवें। यदि इसके विपरीत कोई स्त्री किसी अन्य पुरुष से इशारा आदि करती है और किसी तरह से उसके अंगादि के स्पर्श का प्रयत्न करती है तो वह दण्ड की भागीदार है[2] क्योंकि आचार्य की दृष्टि से ऐसा करना निन्दनीय है।

---

१. कौ०अ०, पृ० ३२८, ३२९

२. केशनीवीदन्तनखावलम्बनेषु पूर्वः साहसदण्डः। वही, पृ० ३२९

इस प्रकार के विधान में केवल स्त्री को ही आचार का उल्लंघन करने पर दण्डित करने का विधान नहीं है अपितु स्त्री से अधिकार के ही बराबर पुरुष को भी दण्ड देने का विधान आचार्य कौटिल्य द्वारा किया गया है और दोनों को ही आचार-व्यवहार की मर्यादा का उल्लघंन करने का निषेध किया गया है।

पुरुष के लिए यह कथन है कि कोई पुरुष यदि किसी स्त्री के केशादि पकड़ता है, दूसरे का स्पर्श करता है तो वह स्त्री की अपेक्षा दुगने दण्ड पाने का अधिकारी है। आचार्य कौटिल्य ने दण्ड के स्वरूप पर अर्थदण्ड की व्यवस्था के साथ-साथ कोड़े लगाकर दण्ड देने का निर्देश किया है। वे यह लिखते हैं कि कोई स्त्री अथवा पुरुष यदि किसी संकेत स्थान में छिपकर बातचीत करते हैं तो उन दोनों को कोड़े लगाने का दण्ड दिया जाना चाहिए[१]।

इसी प्रकार से यदि कोई स्त्री और पुरुष एक-दूसरे को उपहार दें और लें तो भी उन्हें दण्ड दिया जाए किन्तु यह दण्ड आर्थिक दण्ड हो। यदि आदान-प्रदान स्वर्ण की वस्तुओं का होवे तो यह दण्ड अधिक हो जावे और इसमें आचार्य का यह कथन है कि स्त्री को जो दण्ड दिया जाए, पुरुष को उससे अधिक दण्ड दिया जाए[२]।

जो स्त्री राज्य से बगावत करती है, आचार-विचार का उल्लघंन करती है, अवारागर्दी करती है, वह अपना स्त्री धन का अधिकार खो देती है और यदि ऐसी स्त्री ने दूसरा विवाह किया है, तो दूसरे विवाह के अवसर पर मिलने वाले धन की अधिकारिणी भी वह नहीं रहती[३]।

---

१. कौ०अ०, पृ० ३२९

२. वही, पृ० ३३०

३. राजाद्विष्टातिचाराभ्यामात्मापक्रमेण च।
स्त्रीधनानीतशुल्कानामस्वाम्यं जायते स्त्रियाः।। वही, पृ० ३३०

विद्या विचार

आचार्य कौटिल्य ने यद्यपि अपने ग्रन्थ का नाम कौटिल्य अर्थशास्त्र कहा है किन्तु उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही विद्या का विचार किया है और इसका प्रतिपादन समाज की दृष्टि से किया है। वे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति के रूप में विद्याओं का उल्लेख करते हैं और फिर अनेक उन आचार्यों के मतों का कथन करते हैं जिनकी दृष्टि में इनमें से कोई एक विद्या महत्त्वपूर्ण है। मनु, वृहस्पति और शुक्राचार्य का स्मरण करते हुए वे इनके विचार से क्रमशः त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति तथा केवल दण्डनीति को विद्या के रूप में स्वीकृत किए जाने का कथन करते हैं और अपने मत से वह लिखते हैं कि ये चारो विद्याएँ विद्या कोटि में हैं तथा इनकी सार्थकता धर्म एवं अधर्म के ज्ञान में है[१]।

बाद में आचार्य इन चारों विद्याओं की परिभाषाओं का कथन करते हैं और सभी की अपनी-अपनी विशेषताओं का प्रतिपादन करते हैं। इनमें से आन्वीक्षिकी विद्या सभी विद्याओं की प्रदीप कही गई है जो सभी कार्यों की साधक और सभी धर्मों को आर्य मर्यादा में अवस्थित करती है तथा वर्णाश्रम धर्म का निरूपण करती है जिससे प्रजा दुखी न होकर सदा सुख की भागीदार होती है[३]। कृषि, पशुपालन और व्यापार को आचार्य ने वार्ता विद्या के अन्तर्गत माना है और लिखा है कि धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थों तथा सेवकों को देने वाली होने के कारण यह विद्या परम उपकारिणी है। राजा इसी विद्या से उपार्जित कोश और सेना के बल सें स्वपक्ष और परपक्ष को वश में कर लेता है[४]।

---

१. चतस्त्रः एव विद्या इति कौटिल्यः। ताभिर्धर्माथौ यद् विद्यातद्विधानां विद्यात्वम्। कौ०अ०, पृ० १०

२. वही, पृ० ११

३. वही, पृ० १४

४. वही, पृ० १५

जो आचार्य दण्डनीति को ही परमविद्या मानते हैं उनका यह मत है कि सभी वार्ताओं की स्थिति और प्रजा की सुख-समृद्धि दण्डनीति पर ही निर्भर है। यही अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति कराती है और प्राप्ति की रक्षा करती है। इसी से रक्षित वस्तुओं का यथोचित रूप से अभिवर्धन होता है और इसी से अभिवर्धित अर्थ का उचित स्थानों में निवेश होता है इसलिए दण्डनीति ही केवल परमविद्या है। इसलिए लोक में समुचित विधि से यात्रा सम्पन्न हो, इसके लिए आवश्यक है कि वह सदा दण्डनीति का प्रयोग करे[१]।

कौटिल्य इस मत के पक्षपाती हैं। उनका यह कथन है कि तीक्ष्ण दण्ड प्रजा को प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए प्रेरित करता है और मृदुदण्ड से व्यवस्था नहीं बनती। इसलिए समुचित दण्ड का प्रयोग ही उचित दण्डनीति है[२]।

विद्या और विनय का स्वाभाविक सम्बन्ध निरूपित करते हुए आचार्य कौटिल्य ने यह प्रतिपादन किया है कि विनय कृतक और स्वाभाविक रूप से दो प्रकार का होता है। विद्या सत्पात्र ही को योग्य बनाती है। अपात्र विद्या से योग्य नहीं बनता। विद्या से वही योग्य हो सकते हैं जो शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान और तर्क से काम लेते हैं, इसलिए जो विभिन्न विषयों के आचार्य हैं, वे ही अपने-अपने शिष्यों का नियमन कर सकते हैं और उन्हीं के नियमन से शिष्य विद्यावान् और विनयी हो सकते हैं[३]। इससे आचार्य विद्या की लोक यात्रा में महत्ता की पक्षपरता के साथ-साथ उसके विनय के हेतु होने में भी सहमत हैं क्योंकि यही विद्या के हेतु हैं।

---

१. तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्। कौ०अ०, पृ० १६

२. वही,पृ० १६

३. शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिविष्टबुद्धिं विद्या विनयति नेतरम्। वही, पृ० १८

साधु स्वभावी की दिनचर्या

प्राचीन परम्परा में आचार की महत्ता बहुत अधिक रही है, इसलिए मनु ने आचार को धर्मरूप कहा है। वे लिखते हैं कि आचार परम धर्म है, इसलिए ज्ञानी और विवेकी जनों को आचार से सदा परिपूर्ण रहना चाहिए[1]। वे वेदों के ज्ञान, वेदज्ञों की स्मृति और उनके शील, संतों के आचार तथा हृदय की प्रसन्नता को धर्म का मूल कहते हैं। वेद, स्मृति, सदाचार, आत्म-प्रियता धर्म के लक्षण तथा गुण हैं[2]। किन्तु आचार की इस महत्ता के साथ तब यह भी कहा गया था कि जो आचरण श्रेष्ठ पुरुष अर्थात् समाज का अगुआ करता है, लोक भी उसी का अनुसरण करता है। इसलिए लोक आचारवान् बना रहता है।

आचार्य कौटिल्य ने इसी प्राचीन परम्परा के अनुसार राजा के माध्यम से जो जीवनचर्या लिखी, वह न केवल राजा के लिए समझी जानी चाहिए अपितु वह सभी के लिए समझनी चाहिए। राजा समाज का नेतृत्व करता है और वही समाज का अगुआ होता है, इसलिए कौटिल्य ने राजा के माध्यम से आचारवान् दिनचर्या लिखकर समाज को यह सन्देश देना चाहा कि राजा अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके पवित्रता पूर्वक अपना जीवन जिए जिससे समाज भी उसका अनुकरण करके अपने जीवन को पवित्र एवं आचारवान् बना सके। वह धर्म, अर्थ, काम का उपयोग करता हुआ समाज के लिए आदर्श पुरुष बने, जिससे समाज उसका अनुकरण करके एक आदर्श समाज बन सके।

---

१. म०स्मृ० २/१०८
२. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।। वही, २/६, १२

साधु स्वाभावी राजा की जो दिनचर्या कौटिल्य ने लिखी है उसके अनुसार यह लिखा है कि वह काम, क्रोधादि षड्विकारों का परित्याग करके पूरी तरह से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ले। विद्वान् पुरुषों की संगति में रहे, जिससे उसकी बुद्धि का विकास हो। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से प्रजा को विनयी और शिक्षित बनावे। दूसरे का हित-सम्पादन करने के लिए सदा तत्पर रहे[1]।

राजा के लिए आचार्य यह लिखते हैं कि वह अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ पराई स्त्री, पराया धन और हिंसावृत्ति से विरत रहे। असमय में शयन करना, चंचलता का प्रदर्शन करना, झूठ बोलना, अविनय की वृत्ति का प्रदर्शन करना छोड़ दे। जो लोग इस प्रकार का आचरण करते हैं, वह उनकी संगति भी न करे। राजा को चाहिए कि वह अधर्म का आचरण न करे तथा अनर्थ के व्यवहार से भी सर्वदा दूर रहे[2]।

आचार्य लिखते हैं कि राजा के लिए काम का सेवन सर्वथा त्याज्य नहीं है किन्तु वह इस प्रकार से काम का सेवन करे जिससे धर्म और अर्थ को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। यह आवश्यक नहीं है कि वह सर्वथा सुख रहित जीवन व्यतीत करे किन्तु यह अवश्य है कि उसके जीवन में धर्म, अर्थ और काम में संतुलन बना रहे। ऐसा ही राजा प्रजा के लिए आदर्श होता है और उसी से प्रजा भी साधु स्वभावी बनी रहती है।

१.कौ०अ० ३/६/१

२. एवं वश्येन्द्रिय परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत्। स्वप्नं लौल्यमनृतमुद्धतवेषत्वनार्यसंयोगं च, अध
ार्मसंयुक्तमानर्थसंयुक्तं च व्यवहारम्। वही, पृ० २३

समीक्षा

इस प्रकार से हम यह देख सकते हैं कि आचार्य कौटिल्य अर्थ की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भी धर्म और काम की उपेक्षा नहीं करते और न वे सामाजिक संस्कारों की अवहेलना करते हैं। वे धर्म को दो रूपों में विभाजित करके जब उसे कर्तव्य रूप में स्थापित करते हैं तब वे मनुष्य के कर्तव्य को विशेष रूप में कहते हैं और इसी के साथ वे मनुष्य के अन्तस् के गुणों के रूप में सत्य, न्याय, अहिंसादि की प्रतिष्ठा महत्त्वपूर्ण रीति से स्थापित करते हैं। आचार्य कौटिल्य पिता, पुत्र, पुत्री आदि के अधिकारों तथा कर्तव्यों का कथन करके उनके लिए नियमों की व्यवस्था देते हैं और विवाह सम्बन्धों में भी वे नैतिकता की स्थापना करना चाहते हैं। वे विद्या को व्यक्ति के संस्कार का प्रमुख साधन मानते हैं और सदाचार को व्यक्ति के जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग कहते हैं। इसलिए राजा और प्रजा के लिए आचारवान् होना, उनकी दृष्टि से आवश्यक है।
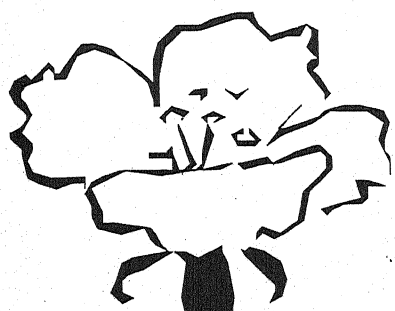
द्वितीय अध्याय

(सामाजिक व्यवहार
तथा
आर्थिक दृष्टि)

द्वितीय अध्याय

(सामाजिक व्यवहार तथा आर्थिक दृष्टि)

दाय तथा दाय का स्वरूप, पैतृक दाय का स्वरूप, पुत्रों के क्रम से उत्तराधिकार, ऋण का लेन-देन, धरोहर सम्बन्धी नियम, दास तथा श्रमिक का स्वरूप, मजदूरी तथा साझेदारी के नियम, क्रय-विक्रय एवं अग्रिम का नियम, कृषि और उसका स्वरूप, परिवहन व्यवस्था, व्यापार का स्वरूप, शिल्प कार्य तथा शिल्पियों का व्यवहार, व्यय और लाभ का विचार, व्यापारी और प्रजा, समीक्षा ।

द्वितीय अध्याय

(सामाजिक व्यवहार तथा आर्थिक दृष्टि)

सम्पत्ति सदा-सर्वदा से सामाजिक जीवन की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता रही है किन्तु इसके प्रभाव और स्थान केविषय में व्यापक मत भेद रहें है। किसी किसी विचारक ने धर्म को सर्वोच्च मानते हुए अर्थ को गौण स्थान दिया है। किन्तु किसी-किसी ने सम्पत्ति को सभ्य समाज का आधार माना है। आचार्य कौटिल्य कोश को धर्म तथा काम का हेतु कहते हैं।[१] इन सब मत मतान्तरों के बाद भी सम्पत्ति मनुष्य के जीवन की बहुत बड़ी आवश्यकता है। एक विचार इस प्रकार का दिया गया है कि सम्पत्ति की उपयोगिता मतभेद का मुख्य आधार नहीं हैं अपितु उसकी व्यवस्था ही इसका आधार है। विदेशी विद्वानों में अरस्तू तथा लाक आदि विद्वान सम्पत्ति के व्यक्तिगत महत्व को प्रतिपादित करते हैं और इसे एक पवित्र संस्था मानते हैं जबकि दूसरे विचारक सम्पत्ति के वैयक्तिक स्वामित्व का विरोध करते हैं और वे सामूहिक स्वामित्व को महत्व देकर उसे प्राचीन काल से ही समाज में स्वीकृत करते हैं। राजा की जो कल्पना प्राचीन काल में की गई थी, उसमें उसके लिए जिन कर्तव्यों का कथन किया गया उनमें उसका एक प्रमुख कर्तव्य यह भी था कि वह प्रजा की सम्पत्ति की रक्षा भली प्रकार से करे।[४]

1.कोशो धर्महेतुः। कौ. अ.,पृ0 685

2.The great and Chief end therefore of mens uniting in to commanwealths and putting themselves under government is the preservation of their properity

S.T.G.,P71, अ0 रा0,पृ0:145

3- S.G.A.I., P-274

4- वा0 रा0 अयो0 66/31, T.GA.I, P, 344

दाय तथा दाय का स्वरूप

सम्पत्ति की ऐसी ही व्यवस्था दाय के द्वारा करने का संकेत आदिकाल से किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि पैत्रिक क्रम से व्यवस्थित ढंग से सम्पत्ति का स्वामित्व परिवार एवं अन्य जनों को मिलता रहे। दाय के प्राचीन सन्दर्भों में पैतृक सम्पत्ति अथवा केवल सम्पत्ति का अर्थ ग्रहण किया गया है। तैत्तरीय संहिता में एक संकेत इस प्रकार का है जिस में यह कहा गया है कि मनु ने अपना दाय अपने पुत्रों में बॉट दिया था।[१] यहाँ पर दाय का अर्थ धन है क्योंकि एक अन्य संकेत इसे इस रूप में स्पष्ट करता है जिस में यह कहा गया है कि वे अपने ज्येष्ठ पुत्र को धन से प्रतिष्ठित करते हैं।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में एक संकेत ऐसा है जिसमे यह कहा गया है कि विश्वामित्र अपने आध्यात्मिक दाय का भाग लेने के लिए शुनः शेप को आमन्त्रित करते हैं।[३]

स्मृतियों में भी दाय को लेकर चर्चा हुई और महर्षि मनु तथा याज्ञवल्क्य इसे लेकर अपना मत व्यक्त करते हैं। याज्ञवल्क्य की टीका मिताक्षरा में यह कहा गया है कि जो स्वामि के सम्बन्ध से अन्य का होता है, वह दाय कहा जाता है। यह अप्रतिबन्ध और सप्रतिबन्ध के रूप से दो प्रकार का होता है। जो धन पुत्रों और पौत्रों को पुत्रत्व और पौत्रत्व से प्राप्त हो वह अप्रतिबन्ध दाय है तथा जो चाचा के भाइयों आदि से प्राप्त होता है वह सप्रतिबन्ध दाय होता है।[४]

१- तै०स० ३।१।९।४
२- वही २।५।२।७
३- ऐ० ब्रा० ३३।५
४-यद्धनं स्वामिसम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वंभवति तदुच्यते। स च द्विविधः- अप्रतिबन्धः सप्रतिबन्धश्च। मिता., पृ० २६५

आचार्य कौटिल्य ने दाय के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं और जो दिशा निर्देश दिए हैं उनके अनुसार वे एक अध्याय में दाय के सामान्य नियम लिखते हैं और दूसरे में वे पैतृक क्रम से दाय के अधिकार का प्रतिपादन करतें हैं। सामान्य नियमों में उनका कथन है कि माता- पिता अथवा केवल पिता के जीवित रहते पुत्र उनकी संपत्ति के अधिकारी नहीं होते हैं। वे जब न रहें तो पुत्र उनकी संपत्ति का बटवारा कर सकते हैं। किन्तु इसमें भी नियम यह है कि किसी पुत्र ने यदि सम्पत्ति स्वयम् अर्जित की हो तो उसका बंटवारा नहीं होता है।[१]

यदि कोई परिवार संयुक्त है तो उसके पुत्र- पौत्रादि चौथी पीढी तक उस परिवार की अविभाजित सम्पत्ति के अधिकारी हैं।[२]

जिसके कोई पुत्र न हो उसकी सम्पत्ति उसके सगे भाई ले सकते हैं। जो नकदी अथवा आभूषण रूप धन है, वह प्रथमतः तो पुत्रों को प्राप्त होना चाहिए किन्तु पुत्रों के न होने पर वह धन लड़कियॉ ले सकती हैं। यदि लड़कियॉ भी न हो तो मृतक के पिता- माता आदि वह धन प्राप्त कर सकते हैं।[३]

एक बड़ी विचित्र स्थिति का कथन कौटिल्य ने इस रूप में किया है जिसमें यह कहा है कि एक माता से अनेक पिताओं द्वारा उत्पन्न लड़कों का दाय भाग पिता के क्रम से निश्चित होना चाहिए।[४]

१- कौ० अ०, पृ० ३३७
२- वही, पृ० ३३७
३- वही, पृ० ३३८
४- सोदर्याणाअनेकपितृकाणां पितृतो दायविभागः। वही, पृ० ३३८

कौटिल्य ने दायभाग का विचार विस्तार से किया है और यह कहा है कि पिता यदि जीवित अवस्था में ही अपनी सम्पत्ति का बटवारा करना चाहे तो सभी को समान अधिकार दे। वह अपने किसी भी पुत्र को उसके अधिकार से वंचित न करें और यदि पिता अपने पीछे कोई सम्पत्ति न छोड़ें जावें तो बड़े भाई का यह दायित्व है कि वह अपने छोटे भाईयों का पालन-पोषण करे। इसमें इतना अवश्य है कि छोटे भाई यदि कुमार्ग पर चलने वाले हो जावें तो फिर बड़ा भाई उनके पालन-पोषण के दायित्व से मुक्त हो सकता है ।[१]

आचार्य यह भी लिखते हैं कि जब तक पुत्र नावालिग है तब तक सम्पत्ति का बटवारा नहीं करना चाहिए। इसी तरह से जब तक विदेश से पुत्र वापस न आ जावें तब तक उनकी सम्पत्ति को किसी वृद्ध व्यक्ति की देख-रेख में सुरक्षित रखना चाहिए।[२]

जिस सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी न हो राजा उस सम्पत्ति को स्वयं अधिगृहीत कर ले। किन्तु उसकी विधवा के भरण-पोषण के निमित्त तथा श्राद्ध कर्म के निमित्त कुछ धन छोड़ देवे। राजा के लिए आचार्य कौटिल्य ने यह कहा कि श्रोत्रिय का धन राजा कदापि न ले। ऐसा करना उसके लिए वर्जित है। ऐसी कोई सम्पत्ति यदि है तो राजा उस सम्पत्ति को विद्वान ब्राहमणों में ही वितरित कर दें।[३]

पतित को, पतित से पैदा हुई संतान को और नपुंसक को दाय भाग नहीं मिलता है। मूर्ख अन्धे आदि भी दाय भाग के अधिकारी नहीं है किन्तु कोढी आदि की अच्छी संातन को दाय भाग दिया जाना चाहिऐ।[४]

---

१. कौ० अ०, पृ० ३३८
२. वही, पृ० ३३९
३. वही, पृ० ३४०
४. वही, पृ० ३४०

पैतृक दाय का स्वरुप

आचार्य कौटिल्य ने पिता के क्रम से संतानों को प्राप्त होने वाले दाय भाग पर भी विचार किया है और उनका यह विचार स्मृतिकारों के अनुरूप दिखाई देता है जैसे- कि वे लिखते हैं कि एक स्त्री के अनेक पुत्रों में से जो ज्येष्ठ हो उसे वर्णक्रम से पशु आदि की सम्पत्ति देनी चाहिए। इनमें से पुत्र यदि ब्राहमण वर्ण का है तो उसे बकरियाँ, क्षत्रिय पुत्र को अश्व, वैश्य पुत्र को गाय और शूद्र पुत्र को भेड़ें दी जानी चाहिए। यदि हीरे जवाहारात हो तो उनको छोडकर सम्पूर्ण के सम्पत्ति के दसवें हिस्से को बड़े लड़के को देना चाहिए क्योंकि वही लड़का पितरों को पिण्डदान और श्राद्ध करता है । उन्होंने लिखा है कि यह मेरा मत उशना मत है।[1]

पैतृकक्रम आचार्य में यह भी स्पष्ट करते हैं कि मृतक पिता की सम्पत्ति में से सवारी और आभूषण बड़े लड़के को दिए जाने चाहिए, सोने-बिछाने के वस्त्र मझले लड़के को बर्तनों के साथ देने चाहिए। काला अन्न, लोहा तथा बैलगाड़ी आदि घरेलू सामान छोटे लड़के को दिए जाने चाहिए। बाकी सभी सामान बराबर के हिस्से में बाँट देना चाहिए।[2]

इस सम्बन्ध में यदि हम मनु और याज्ञवल्क्य का देखें तो उनके विचार भी लगभग इसी प्रकार के हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य और उन पर टीका लिखने वाले मिताक्षराकार भी यही लिखते हैं कि पिता यदि अपनी सम्पत्ति का दायभाग करता है तो वह ज्येष्ठ पुत्र को

---

१. प्रतिमुक्तसुधापाशो हि भवति इत्यौशनसो विभागः। कौ.अ., पृष्ठ ३४१
२. शेषद्रव्याणमेकद्रव्यस्य वा समो विभागः। वही, पृ० ३४१

अपनी सम्पत्ति का श्रेष्ठ भाग देवे, मध्यम पुत्र को सम्पत्ति का मध्यम भाग और कनिष्ठ को कनिष्ठ भाग दे देवे।[1] मनु ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है और यह लिखा कि सभी सम्पत्तियों में जो श्रेष्ठ सम्पत्ति है, उसे ज्येष्ठ पुत्र को दिया जाना चाहिए। उससे आधी सम्पत्ति मध्यम पुत्र को और उसके बाद कनिष्ठ पुत्र को अपना भाग दिया जाये।[2]

आचार्य कौटिल्य ने विवाह परम्परा को बहुत महत्त्व दिया है। इसलिए उन्होनें लिखा है कि अविवाहित स्त्री के मुकाबले जो विवाहित स्त्री का पुत्र है, भले ही वह बाद में उत्पन्न हुआ हो, वही बड़ा समझा जायेगा और वही श्रेष्ठ सम्पत्ति पाने का अधिकारी होगा। जो पुत्र जुड़वा पैदा हुआ है, उसमे वहीं ज्येष्ठ होगा जो पहले उत्पन्न हुआ होगा।[3]

यदि किसी ब्राह्मण की चार स्त्रियाँ हों और वे चारों वर्णों की हों तो ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न पुत्र को सम्पत्ति के चार भाग, क्षत्रिय पुत्र को तीन भाग, वैश्य पुत्र को दो भाग और शूद्र पुत्र को तीन भाग मिलने का विधान है ।[4]

आचार्य यह चाहते हैं कि ब्राह्मण यदि सवर्ण में पुत्र उत्पन्न हुआ है तो उसे सम्पत्ति का अधिक भाग दिया जाए क्योंकि वह पिण्डदान कर सकेगा, और वही पिण्डदान करने का अधिकारी भी होता है ।[5]

---

१. ज्येष्ठ वा श्रेष्ठभागेनेति। ज्येष्ठं ज्येष्ठभागेन, मध्यमं मध्य भागेन, कनिष्ठभागेन विभजेत्।
मिता०, पृ० २६९

२. ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्चयद्वरम् ।
ततोऽर्धस्य मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ।।
म० स्मृ० ९/११२

३. कौ० अ०, पृ० ३४२

४. वही , पृ० ३४३

५. वही , पृ० ३४४

पुत्रों के क्रम से उत्तराधिकारी

आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में अपने से पूर्व दो प्रकार के मत दिए हैं जिनमें से एक का कथन यह है कि किसी पुरुष किसी दूसरी स्त्री में पैदा हुआ पुत्र उस पराई स्त्री की सम्पत्ति माना जाना चाहिए। दूसरे मत के अनुसार यह कहा गया है कि जो पुत्र जिसके वीर्य से उत्पन्न हो, वह उसी का पुत्र समझा जाना चाहिए। आचार्य कौटिल्य दोनों मतों को स्वीकारते हैं और उन्हें दाय भाग पाने का उत्तराधिकारी घोषित करते हैं।[१]

कौटिल्य भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पन्न हुए पुत्रों का पृथक्-पृथक् नामकरण करते हैं। जैसे कि वे लिखते हैं कि विधिपूर्वक विवाहित स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र औरस कहा जाता है उसी तरह से पुत्री के पुत्र को भी माना जाता है। समान गोत्र अथवा भिन्न गोत्र वाली स्त्री से उत्पन्न पति के पुत्र को क्षेत्रज कहते हैं। यदि मृतक पिता का कोई लड़का न हो तो दो पिता अथवा दो गोत्र वाला लड़का ही उन दोनों के पिण्डदान अथवा सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।[२]

इसी तरह से कौटिल्य ने गूढ़ज पुत्र का संकेत करते हुए यह लिखा है कि पिता अथवा बन्धुओं से उत्पन्न पुत्र उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है किन्तु ऐसा पुत्र जो गूढ़ज के समान दूसरे से उत्पन्न हुआ हो, वह पालन -पोषण करने वाले की सम्पत्ति का ही अधिकारी होता है।[३]

---

१. विद्यमानमुभयम्, इति कौटिल्यः। कौ. अ., पृ० ३४५

२. स्वयं जातः कृतक्रियामौरसः। तेन तुल्यः पुत्रिकापुत्रः। सगोत्रेण वा अन्यगोत्रेण वा नियुक्तेन क्षेत्रजातः क्षेत्रजः पुत्रः। जनयितुस्त्यिस्मिन पुत्रे स एव द्विपितृको द्विगोत्रो वा द्वयोपरि स्वधारिक्थभाग् भवति। वही, पृ० ३४६

३. वही, पृ० ३४६

आचार्य कौटिल्य के समय में दत्तक पुत्र की परम्परा का ज्ञान भी होता है। वे एक स्थान पर यह लिखते हैं कि जिस पुत्र को उसके माता-पिता हाथ में जल लेकर उसे दान कर दें वह दत्तक पुत्र होता है और वह पालन-पोषण करने वाले की सम्पत्ति का अधिकारी होता हैं।[१] स्मृतियों में पुत्रों के जो प्रकार गिनाए गये हैं, उनमें दत्तक पुत्र का नाम दिया गया है और विशेष स्थिति का वर्णन विस्तार से नहीं किया गया है।[२] दत्तक पुत्र और सपुत्र के समान ही अपने पास की सम्पत्ति का अधिकारी होने के साथ-साथ पास के भाई आदि परिवारी जनों की सम्पत्ति का अधिकारी भी होता था, यदि उनके वंश में कोई सम्पत्ति नहीं है।[३] आधुनिक भारत में भी यह परम्परा प्राप्त है।

कौटिल्य ने सवर्णों से अवर्ण स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों, ब्राहमणादि से वेश्या में उत्पन्न पुत्रों आदि का विस्तार से कथन किया है और उन के अधिकारों की ओर संकेत किया है। अन्त में उन्होंने यह लिखा कि देश, जाति संघ और गाँव के लिए जैसा धर्मोचित तथा श्रेयस्कर हो, उसी के अनुरूप वहाँ का दाय विभाग करना चाहिए।[४] इसका अभिप्राय यह है कि वे समाज में इसको लेकर किसी तरह का विग्रह नहीं चाहते हैं।

---

१. तत्सधर्मामातृपितृभ्यामद्भिर्दत्तो दत्तः। कौ० अ०, पृ० ३४६
२. म. स्मृ. ९/१६८, या. स्मृ. २/१३०, बौ. ध. सू. २.४.२४
३. ध. इ. (२), पृ. ९०३
४. देशस्य जात्या संघस्य धर्मों ग्रामस्य वापि यः। उचितस्तस्य तेनैव दार्यधर्म प्रकल्पयेत्। कौ० अ०,पृ० ३४९

ऋण का लेन-देन

सामाजिक जीवन का ताना-बाना ही ऐसा होता है जिसमें हर व्यक्ति को किसी न किसी का सहयोग लेना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति एक स्वतंत्र इकाई होकर भी इसलिए पराश्रित होता है क्योंकि उसे दूसरे का सहयोग किसी न किसी रूप में चाहना पड़ता है। सम्भवत: इसी सहयोग के भाव के रूप में ऋण लेने की परम्परा का प्रचलन हुआ और लेन-देन की परम्परा में धन अथवा अन्न कोई वस्तु देकर उस पर ब्याज लेने की प्रथा प्रचलित हुयी। स्मृतियाँ और अर्थशास्त्रकार इसका निरूपण करते हैं और विधि-विधान से यह लिखते हैं किस व्यक्ति को ऋण देकर क्या व्याज उससे लेना चाहिए और व्याज का प्रतिशत कितना होना चाहिए। इसमें वर्णों के आधार पर भी विचार किया गया है और स्त्री तथा पुरुष के आधार पर भी विचार किया गया है।

आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में 'ऋण दानम्' नामक एक प्रकरण लिखा है और इसी में ऋण देकर ब्याज लेने के नियमों का कथन किया है। वे लिखते हैं कि सौ पण (तत्कालीन मुद्रा) देकर उस पर प्रतिमास सवा पण व्याज लिया जाना चाहिए। इसमें भी अन्तर यह है कि व्यापारी से यह व्याज पाँचपण होगा, जबकि वन में रहकर वहीं व्यापार करने वाले से दस पण का व्याज लिया जावेगा। जो व्यापारी समुद्र मार्ग से व्यापार करते हैं उनके लिए यही व्याज बीस पण के हिसाब से लिया जायेगा।[१]

---

१. सपादपणा धर्म्या मासवृद्धिः पणशतस्य। पंचपणा व्यवहारिकी। दसपणा कान्तारगाणाम्। विंशतिपणा सामुद्राणाम्। कौ० अ०, पृ० ३६६

महर्षि याज्ञवल्क्य का मत भी इसी प्रकार के मत जैसा ही है। वे भी यही लिखते हैं कि वन में जाने वाले से दस प्रतिशत और समुद्र की यात्रा करने वाले से बीस प्रतिशत व्याज लेना चाहिए । वे ऋण देकर व्याज लेने के लिए यह भी लिखते हैं कि सभी जातियों में जो जितने पर सहमत हो जाए, उससे उतना व्याज ले लेना चाहिए।[१]

दिए हुए ऋण पर व्याज लेने कि बात मनु भी लिखते हैं और वे यह कहते हैं कि सौ पण ऋण लेने वाला सवा पण प्रतिमास व्याज देवे। वे वर्णानुसार ऋण पर व्याज लेने का संकेत भी करते हैं । इसके अनुसार ब्राह्मण से दो पण, क्षत्रिय से तीन पण, वैश्य से चार पण और शूद्र से पाँच पण प्रति सैकड़ा प्रतिमास व्याज का विधान बताते हैं।[२]

ऋण पर व्याज लेने के सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य कुछ स्थितियों में व्याज न लेने का विधान करते हैं । जैसे कि वे यह विधान करते हैं कि जो बहुत समय तक यज्ञ के कार्य में लगा है, व्याधि से ग्रस्त है, गुरुकुल में अध्ययनरत है, बालक है अथवा अशक्त है तो ऋण दाता को उससे व्याज नहीं लेना चाहिए।[३] यहाँ पर हम यह देख सकते हैं कि अध्ययन करने वालों को दिए गए ऋण पर व्याज से मुक्त रखने की व्यवस्था वर्तमान शासनकाल में भी लागू की गई है जिसमें शिक्षा प्राप्ति के लिए शासन से लिए जाने वाले ऋण पर अध्येता को व्याज नहीं देना होता ।

---

१. या० स्मृ०, पृ० २००, मिता., पृ० २००, ना० स्मृ० १/ १०८
२. द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम्।
मासस्य बृद्धिं गृहणीयाद् वर्णानामनुपर्वशः।।म० स्मृ० ८/१४२
३. कौ० अ०, पृ० ३६७

पारिवारिक विवाह जहाँ तक सम्भव हों, न्यायालय में न जावे यह आचार्य कौटिल्य चाहते हैं। इसलिए वे यह विधान करते हैं कि भार्या, पति, पिता और पुत्रादि यदि आपस में एक दूसरे से कर्ज लें अथवा साथ रहने वाले भाई एक दूसरे से कर्ज ले लेवें तो वे उस कर्ज की वसूली के लिए अदालत में नहीं जा सकते।[1] अर्थात् वे अपना कर्ज परस्पर सहमति से ही प्राप्त कर लेवें।

इसी प्रकार से चाणक्य का यह मत है कि किसी किसान ने अथवा राजकर्मचारी ने यदि अपना काम चलाने के लिए कर्ज लिया है और वह अपने काम में लगा है तो उससे कर्ज वसूल करने के लिए उसे गिरफ्तार नहीं किया जा सकता है।[2] आज की शासकीय व्यवस्था में परिवर्तन किया गया है और निश्चित अवधि तक ऋण न चुकाने वाले किसानों को गिरफ्तार कर लिया जाता है।

पति और पत्नी का सम्बन्ध तब के समय में प्राय: विच्छिन्न नहीं होता था। इसलिए आचार्य कौटिल्य ने यह विधान भी किया है कि कोई पत्नी यदि अपने पति के लिए ऋण लेकर फिर उसे वापस नहीं करती है तो पत्नी को विवश करके ऋण वसूल नहीं किया जा सकता है। इतना अवश्य है कि ग्वाला आदि की स्त्रियाँ जिन्हें सम्भवत: आचार्य कौटिल्य, श्रमजीवी मानते हैं, उनसे पति के द्वारा लिए हुए ऋण को वापस लिया जा सकता है। किन्तु ऐसा तभी किया जा सकता है जब उनके पति ऋण चुकाने के लिए न हो।[3]

---

१. दम्पत्योः पितापुत्रयोर्भ्रातृणां चाविभक्तानां परस्परकृतमृणमसाध्यम्।
कौ० अ०, पृ० ३६८

२. वही, पृ० ३६९

३. स्त्री वाप्रतिश्राविणी पतिकृतमृणमन्यत्र गोपालकार्धशीतिकेभ्यः। वही, पृ० ३६९

धरोहर सम्बन्धी नियम

आचार्य कौटिल्य ने धरोहर के कई प्रकारों का उल्लेख किया है और धरोहर न लौटाने पर किस प्रकार का दण्डादि का व्यवहार हो, इसका कथन किया है। धरोहर के लिए उन्होंने 'उपनिधि' शब्द का प्रयोग किया है। इसी तरह जो वस्तु गिरवी रखी गई हो वह है तो धरोहर ही किन्तु उसका प्रकार बदल जाने से वह कौटिल्य की दृष्टि में दूसरे प्रकार की हो गई जिसके लिए आचार्य ने आधि शब्द का प्रयोग किया है।[१]

एक दूसरे प्रकार की धरोहर को आचार्य कौटिल्य ने 'निक्षेपधन' नाम दिया है। यह वह सम्पत्ति है जो दिखाकर अथवा गिनकर रखी जाती है। यह उपनिधि के समान मानी गई है।[२]

इन तीनों प्रकार के धरोहरों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इनके नियमों को ऋण सम्बन्धी नियमों के सदृश ही समझना चाहिए।[३]

उपनिधि के सम्बन्ध में कौटिल्य यह लिखते हैं कि शत्रु के षडयन्त्र, जंगलवासियों के आक्रमण से दुर्ग का विनाश होने पर अथवा चोरों और डाकुओं के द्वारा सम्पत्ति का हरण कर लिए जाने पर, अग्नि से जलने, नाव से डूबने आदि पर उपनिधि पाने के लिए कोई किसी पर मुकदमा नहीं चला सकता।[४]

यदि कोई व्यक्ति उपनिधि का उपभोग करके उसको नष्ट कर दे अथवा भाग जाये तो दण्ड का भागीदार होगा।[५]यदि कोई किसी की उपनिधि को गिरवी रख दे और वह नष्ट हो जाए तो वह दण्ड का भागीदार होगा ।[५]

---

१. कौ० अ०, पृ० ३७४-३७५
२. वही, पृ० ३७८
३. उपनिधिः ऋणेन व्याख्यातः। वही, पृ० ३७४
४. वही, पृ० ३७४
५. वही, पृ० ३७४-३७५

आचार्य कौटिल्य ने यद्यपि उपनिधि के समान ही आधि अर्थात् गिरवी रखी हुई धरोहर के लिए नियमों का कथन किया है किन्तु इसके साथ ही वे यह लिखते हैं कि गिरवी रखने वाला अपनी वस्तु को लेना चाहे और व्याज आदि के लोभ से उत्तमर्ण उसको देना न चाहे तो उस पर बारह पण का दण्ड किया जाए। इस स्थिति में यदि गिरवी रखने वाला व्यक्ति जिसे अधमर्ण कहा गया है, उसे उत्तमर्ण न मिले तो वह आधि के बदले लिए हुए धन को उस गाँव के वृद्ध पुरुषों के पास रखकर अपनी गिरवी रखी हुई वस्तु वापिस ले सकता है।[१]

इसी प्रकार से जो स्थायी सम्पत्ति बिना परिश्रम के ही फल देती है और जिसका विनियोजन व्यापार में करके लाभ प्राप्त किया जाए उस लाभ से एक निश्चित मात्रा में अंश उसे भी दिया जाए जिसकी वह सम्पत्ति गिरवी रखी हो।[२]

इसी प्रकार निक्षेप धन के विषय में भी नियम समझना चाहिए। आचार्य कौटिल्य यह लिखते हैं कि किसी के निक्षेपधन को यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे को दे देवे, तो देने वाले को यथोचित दण्ड दिया जावे।[३]

इसी प्रकार से आचार्य कौटिल्य ने शिल्पियों द्वारा निक्षेपित सामग्री के विषय में भी नियमों और उपनियमों का कथन किया है और यह संकेत किया है कि इनसे सावधानी पूर्वक व्यवहार करना चाहिए क्योंकि इनका व्यवहार प्रायः नियमानुकूल नहीं होता।[४]

---

१. कौ० अ०, पृ० ३७६
२. स्थावरस्तु प्रयासभोग्यः फलभोग्यो वा।
प्रक्षेपबृद्धिमूल्यशुद्धमाजीवममूल्यक्षयेणोपनयेत्।। वही, पृ० ३७६
३. निक्षेपश्चोपनिधिना। तमन्येन निक्षिप्तमन्यस्यार्पयतो हीयेत।
निक्षेपापहारे पूर्वापदानं निक्षेप्तारश्च प्रमाणम्।। वही,पृ०३७८
४. वही, पृ० ३७९-३८०

दास तथा श्रमिक का स्वरूप

प्राचीन समय में वर्ण व्यवस्था के स्वरूप के निर्धारण काल में दासों के अस्तित्व के विषय में भी संकेत प्राप्त हुए हैं। वेद इस विषय में जो संकेतात्मक सामग्री देते हैं, उनके अनुसार दास आर्यों के प्रतिपक्षी, श्रमिक अथवा गुलाम हो सकते हैं। उनका जो वर्णन वेद में है उसके अनुसार वे चपटी नाक वाले, यज्ञ न करने वाले तथा काले रंग वाले थे।[१] एक स्थान पर तो दस्यु और दास को एक ही मानने का संकेत है।[२]

महर्षि व्यास और मनु इसे अन्त्यज के रूप में मानते है। मनु ने यह लिखा है कि विप्र से शूद्र में पैदा हुआ आयोगवती स्त्री दास पैदा करती है, वह नौका बनाने वाला अथवा धीवर कहा जाता है।[३] मिताक्षराकार दास को शुश्रूषा करने वालों में गिनते हैं जो अपने स्वामी की सेवा करता है।[४] याज्ञवल्क्य ने यह लिखा है कि संन्यास से च्युत व्यक्ति आजीवन राजा का दास बनकर रहे।[५]

दास केवल अन्त्यज ही होते थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक विद्वान ने यह मत दिया है कि आर्य अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार करना चाहते थे, इसलिए अनेक दास भी उनकी संस्कृति में घुल-मिल गये थे जिन्हें आर्यों ने स्वीकार कर लिया था।[६] और इस रूप में प्राचीन समय से ही दासों के अस्तित्व से इंकार नहीं किया जा सकता जो निम्न वर्ण के सेवक होते थे।

---

१. ऋक् ५।२९।१०, ७।६।३, १।१२९।८
२.वही १०।२२।५
३. व्या० स्मृ० १।१२।१३, म० स्मृ० १०।३४
४. मिता. पृ० ३२८
५. या. स्मृ., पृ० ३३०
६.**Many Members of The non Aryan tribes or races espaused The Manu cult and were merged into the Arya race .**
S. A.A. I. C., P, 6, 9

कौटिल्य जब दासों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं तो वे लिखते हैं कि आर्यों को किसी भी स्थिति में दास नहीं बनाया जा सकता। म्लेच्छ जाति के लोग यदि चाहें तो दास बन सकते हैं और बना सकते हैं।[१] वे इसमें इतना संशोधन अवश्य करते हैं कि सारा का सारा परिवार यदि गिरफ्तार हो गया हो, सभी पर विपत्ति आ गई हो तो आर्य दास बन सकता है किन्तु जैसे ही साधन जुट जाऐं, उसे मुक्त करा लेना चाहिए।[२]

आचार्य का यह भी मत है कि जो केवल उदर पालन के लिए दास है उसे छोड़कर कोई भी किसी को दास नहीं बनावे। यहाँ तक कि आर्यों में शूद्र को भी विक्रय करके दास बनाने का नियम नहीं हैं। यदि ऐसा कोई करे तो उसे दण्डित किया जावे।[३]

यदि कोई स्वामी अपने दास से ऐसा कार्य करावे जो उचित न हो, जैसे मल-मूत्रादि साफ कराने का काम। इसी प्रकार यदि कोई दासी स्त्री से आचार विहीन काम करावे तो वे दास कर्म छोड़कर जा सकते हैं।[४]

जो आर्य किसी प्रकार दास हो गया है, वह आर्य ही रहेगा और उसे अपने पिता के उत्तराधिकारी से भी वंचित नहीं किया जा सकेगा।[५] जो दास अपने श्रम से अपना दासत्व का मूल्य देकर मुक्त होना चाहे, वह ऐसा कर सकता है और दास भाव से मुक्त हो सकता है।[६]

आचार्य चाणक्य ने श्रमकों के लिए यह विधान किया है कि उन्हें कुशलता के आधार पर समुचित वेतन दिया जाये। जो वेतन न दे वह दण्ड का भागीदारी हो।[७] यहाँ तक कि आचार्य शरीर जीवी वेश्या कोभी उचित धन देने का विधान करते हैं।[८]

---

१. म्लेच्छानामदोष: प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। न त्वेवार्यस्य दासभाव:। कौ० अ०, पृ० ३८१

२. वही, पृ० ३८१

३. वही, पृ० ३८१

४. वही, पृ० ३८२

५. वही, पृ० ३८३

६. दण्डप्रणीत: कर्मणा दण्डमुपनयेत्। वही, पृ० ३८३

७. वही, पृ० ३८५

८. वही, पृ० ३८६

मजदूरी तथा साझेदारी के नियम

आचार्य कौटिल्य ने मजदूरों के सम्बन्ध में विचार करते समय उनका पूराध्यान रखा है किन्तु साथ ही साथ उन्होंने यह भी कहा है कि मजदूर ठीक ढंग से काम करें, इसके लिए यह आवश्यक है कि उन पर नियन्त्रण रखा जाऐ। मजदूर को आचार्य के मतानुसार,आवश्यकता पड़ने पर समुचित अवकाश लेने का अधिकार है। कोई भी मजदूर कुछ कुत्सित कार्य आ जाने पर, बीमारी आ जाने पर आकस्मिक अवकाश ले सकता है।[१]

स्वामी और सेवक यदि आपस में इस प्रकार के वचनों से आबद्ध हों कि वे एक-दूसरे के साथ कार्य को सहमत हैं तो फिर वे वचन भंग न करें यदि वे दोनों में से कोई भी अपना वचन भंग करता है तो वे दण्ड के भागीदार हैं।[२]

आचार्य कौटिल्य ने कुछ ऐसे आचार्यों के मत का संकेत किया है जो यह कहते हैं कि मजदूर यदि अपनी उपस्थिति दर्ज करा दे तो उसके द्वारा कार्य किया हुआ मान लेना चाहिए। किन्तु कौटिल्य इससे सहमत नहीं हैं और वे यह लिखते हैं कि वेतन कार्य करने का दिया जाता है, खाली बैठने का नहीं।[३]

एक प्रकार के नियम से आचार्य कौटिल्य कुछ कठोर से दिखते हैं जिसमें वे यह लिखते हैं कि ठीक तरह से काम न करने वाले मजदूरों की मजदूरी सात दिनों तक दबा कर रखनी चाहिए। इतने पर भी मजदूर ठीक से काम न करें तो वह कार्य किसी दूसरे को दे देना चाहिए। मजदूरों को चाहिए कि वे मालिक की अनुमति के बिना किसी वस्तु को न नष्ट करें और न ले जावें।[५]

---

१. कौ० अ०, पृ० ३८७
२. वही, पृ० ३८७
३. नेति कौटिल्य:। कृतस्य वेतनं, नाकृतस्यास्ति।
वही, पृ० ३८८

४. वही, पृ० ३८८

इसी प्रकार से आचार्य कौटिल्य साझेदारी के नियमों का भी कथन करते हैं जिसमें वे लिखते हैं कि संघ से एक मुष्ट मजदूरी पाने वाले अथवा मिलकर ठेके पर काम करने वाले पहले से तय की गई मजदूरी को मिलकर आपस में बाँट लेवें।[१]

कृषकों के लिए यह विधान है कि वे कृषि कार्य प्रारम्भ करने से लेकर अन्त तक आपस में साझीदारी करके सभी को उचित हिस्सा देवें। इसी प्रकार से जो व्यापारी है वे भी खरीद लेकर बिक्री तक सभी साझेदारों को बराबर का हिस्सा देवें।[२]

साझीदारों के बीच में यदि कोई साझीदार चोरी कर ले और साझीदार का सामान उचित रूप से न देना चाहे तो उससे साफ-साफ वस्तु स्थिति जानकर उसे माफ कर दिया जाये। इसके बाद भी यदि वह चोरी करना बन्द नहीं करता है तो उसे साझीदारी से पृथक् कर दिया जाना चाहिए।[३]

जो यज्ञकार्य करते हैं उन्हें भी सम्पत्ति का बराबर भाग कर लेना चाहिए।[४]

याज्ञिकों की साझेदारी में आचार्य ने पवित्रता और मर्यादा को बड़ा महत्त्व दिया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में यह लिखा है कि शराब पीने वाले, शूद्रा को घर में रखने वाले, ब्राहमण को मारने वाले, कुत्सित दान लेने वाले, कुकर्मियों के यहाँ यज्ञ कराने वाले से यज्ञ कार्य की समाप्ति के पूर्व ही सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है। अर्थात् इनकी साझेदारी समाप्त की जा सकती है।[५]

---

१. कौ० अ०, पृ० ३८९
२. वही, पृ० ३८९
३. वही, पृ० ३८९
४. याजकाः स्वप्रचारद्रव्यवर्जं यथाभाषितं वेतनं समं विभजेरन्। वही, पृ० ३९०
५. असत् प्रतिग्रहे युक्तः स्तेनः कुत्सितयाजकः। अदोषस्त्यक्तुमन्योन्यं ....। वही, पृ० ३९१

क्रय-विक्रय एवं अग्रिम का नियम

समाज में व्यापार का यह महत्त्व होता है और इससे सामाजिक ढाँचा ढंग से संगठित रहता है। इसमें लेन-देन कई प्रकार से होता है जिसमें अग्रिम लेन-देन की परम्परा भी है। यह किस रूप में हो, इस पर आचार्य कौटिल्य ने नियमों का निर्देश किया हैं। जो वस्तु बेंच दी गई हो और जिसमें राजा, चोर, अग्नि अथवा जल के उत्पात से दोष आ जाए तो उसे 'उपनिपात' कहते हैं। बेची हुई वस्तु का गुणहीन होना अथवा दुखदाई होना 'अविषह्य' कहलाता है।[१]

जो व्यापारी क्रय-विक्रय करते हैं वे खरीदे हुए माल पर एक दिन तक अपना बयाना लौटा सकते हैं। ग्वालों का विक्रय पाँच दिन तक, किसानों का तीन दिन तक और जीवन की आधार भूत भूमि का बयाना सात दिन तक वापस किया जा सकता है।[२]

इसी प्रकार यदि खरीददार खरीदे माल से मुकर जाए तो वह दण्ड का भागीदार होता है।[३] इसी तरह से यदि कोई अस्वस्थ पुरुषों तथा पशुओं को स्वस्थ बताकर उनकी बिक्री करे और उन्हें ठीक बतावे, तो वह दण्ड का भागीदार होता है।[४]

जो चौपाए खरीदे जा चुके हैं, वे डेढ़ मास तक लौटाए जा सकते हैं। मनुष्यों को साल भर तक लौटाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इतने समय में इनकी अच्छाई और बुराई का पता भली प्रकार चल जाता है।

अन्त में आचार्य यह लिखते हैं कि धर्मस्थ लोगों को चाहिए कि वे लेन-देन और क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था करें जिससे किसी को किसी प्रकार का नुकसान न उठाना पड़े।[५]

---

१. राजचोराग्न्युदकबाध उपनिपातः। बहुगुणहीनमार्तकृतं वाविषह्यम्।
कौ० अ०, पृ० ३९२

२. वही, पृ० ३९२ ३. वही, पृ० ३९३

४. वही, पृ० ३९४

५. दाता प्रतिग्रहीता च स्यातां नोपहतौ यथा।
दाने क्रये वानुशयं तथा कुर्युः सभासदः।। वही, पृ० ३९४

कृषि और उसका स्वरूप

प्रारम्भकाल से ही यहाँ पर यह अवधारणा थी कि आर्यों का जीवन कृषि प्रधान है। वैदिक ऋषियों ने कृषि से सम्बन्धित देवताओं की कल्पना की है। इन देवताओं में क्षेत्रपति, सीता, इन्द्र और पर्जन्य हैं। कृषि का कार्य मंगलमय ढंग से हो, इसके लिए वे समय-समय पर इनके देवताओं की प्रार्थना करते रहते थे। वे कृषि के देवता क्षेत्रपति की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे क्षेत्रपते! गाय जिस प्रकार दूध देती है, उसी प्रकार से तुम मधुस्रावी, पवित्र, घृत तुल्य जल प्रदान करो। अमरता के स्वामी हमें सुखी करें। हमारे वृक्ष, आकाश, जल, अन्तरिक्ष तथा क्षेत्रपति सभी मधुर बनें।[१] अन्य एक स्थान पर अन्य प्रार्थना में कहा गया है कि मैं जो तुमसे खोद निकालता हूँ, वह शीघ्र ही तुममें उत्पन्न हो जावें।[२]

महाभारत महाकाव्य में यह कहा गया है कि वार्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य) का आश्रय लेने वाला राष्ट्र सुखी रहता है।[३] रामायण में इस प्रकार का संदर्भ आया है जिसमें यह कहा गया है कि राष्ट्र की सम्पन्नता का परिचय जलाशयों, जोती हुयी भूमि और अदेव मातृक जनपद से मिलता है।[४]

भारत का कृषि विज्ञान प्रारम्भ से ही समुन्नत था और खेती के सिंचन की कला तब विकसित थी, इसका स्वीकरण पाश्चात्य विद्वान भी करते हैं। एक विद्वान ने यह लिखा है कि सिन्धु सभ्यता के युग में खेतों की सिंचाई करने के लिए नहरें बनाना तथा कुओं से जल निकालकर नालियों से खेतों तक पहुँचाना तब ज्ञात था।[५] एक अन्य सन्दर्भ में इन्हीं महोदय ने सिन्धु घाटी के समय में ही विलोचिस्तान में बाधों से, जो नदियों में बने थे, सिंचाई होने का प्रमाण दिया है।[६]

---

१. ऋक् ४। ५७ से
२. अथर्व. १२।१।३५
३. म० भा० सभा० ५। ६९
४. वा० रा० अयो० १००।४३-४६
५. P.H.I., P, 70
६. वही, ६९

आचार्य कौटिल्य ने तो अन्य विद्याओं के साथ वार्ता विद्या के परिचय में कृषि को प्रथम स्थान दिया ही है। वे अपने ग्रन्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र में कृषि पर विस्तार से विचार करते हैं। वे कृषि के सम्बन्ध में इस मत को स्थापित करते हैं कि कृषि के मूल में जल सिंचन का बड़ा महत्त्व है। बिना जल की समुचित व्यवस्था के कृषि कार्य का सम्पादन होना लाभकर नहीं है। इसलिए आचार्य यह लिखते हैं कि जिन तालाबों में नदी का पानी न आता हो, वहाँ किसान रहट आदि लगाकर पानी लेवें और अपने खेतों का सिंचन करें। ऐसे स्थानों पर राजा उनसे उतना ही कर वसूल करें जितने से प्रजा को कष्ट न होवे।[१]

जिन किसानों के पास तालाब नहीं है वे भी कुछ मूल्य देकर अथवा अपनी उपज का कुछ हिस्सा देकर मालिक की आज्ञा से पानी ले सकते हैं।[२]

आचार्य कृषि की समुन्नति के लिए राजा को भी निर्देशित करते हैं और लिखते हैं कि भूमि की सिंचाई के लिए राजा को चाहिए कि वह नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बनवावें और वर्षा ऋतु का जल जलाशयों में भरवा दें। जो बड़े-बड़े जलाशय हैं, उनमें उत्पन्न होने वाली मछली, जलचर पक्षी, कमलदण्ड आदि पर राजा का ही अधिकार रहेगा।[३]

आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र में सीताध्यक्ष नामक एक अध्याय ही लिखा है जिसमें कृषि से सम्बन्धित सभी बातों की पूरी जानकारी दी गई है।

---

१. कौ.अ., पृ० ३५८

२. वही, पृ० ३५८

३. वही, पृ० ९६

वे इस अध्याय में यह लिखते हैं कि सीताध्यक्ष को, जो कृषि विभाग का अध्यक्ष होता है, यह आवश्यक है कि वह कृषिशास्त्र, शुल्वशास्त्र (पैमाइस) तथा वृक्ष विज्ञान की पूरी जानकारी रखे। उसे चाहिए कि कृषि के विशेष-विशेष विशेषज्ञों से वह अन्न, फूल, फल, शाक, कन्द, सन और जूट आदि के बीजों का संग्रह यथा समय करावे।

उन श्रेष्ठ बीजों को वह श्रमिकों, दासों और सजायाफ्ता लोगों से ऐसी भूमि में बुवावे जिसे एक से अधिक बार जोता गया हो।[१]

कितनी वर्षा कृषि के लिए उत्तम होती है, इसका विवेचन करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि वर्षा के अनुसार यदि एक हिस्सा श्रावण मास में, दो हिस्सा भाद्र पद और आश्विन में वर्षा होवे तो उस वर्ष को फसल के लिए लाभदायी मानना चाहिए।[२]

किस अन्न को कब बोना चाहिए और किसे पानी बरसने के पहले तथा किसे पानी बरसने के बाद बोना चाहिए- इसका विवेचन भी आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में किया है क्योंकि इससे अन्न उत्पत्ति की सम्भावना अच्छी होती है।[३] इसीलिए वे लिखते हैं कि ऋतु के अनुसार और पानी की सुविधा देखकर ही खेतों में अन्न बोना चाहिए।[४]

कौटिल्य ने कृषि कार्य में लगे हुए श्रमिकों की मजदूरी देने के सम्बन्ध में, कौन फसल किस कोटि की है आदि के सम्बन्ध में, फसल को उचित स्थान में रखने के सम्बन्ध में भी विचार किया है।[५] और इस प्रकार से सम्पूर्ण कृषि की व्यवस्था कैसे की जाए तथा इसे कैसे लाभप्रद बनाया जाए इस पर अपना मत्तव्य दिया है।

---

१. बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदण्ड प्रतिकर्तृभिर्वापयेत्
कौ.अ., पृ० २३८

२. वर्षत्रिविभागः पूर्वपश्चिममासयोः, द्वौ त्रिभागो मध्यमयोः सुषमारूपम्। वही., पृ० २३९

३. वही., पृ० २४०

४. कर्मोदकप्रमाणेन कैदारं हैमनं ग्रैष्मिकं वा सस्यं स्थापयेत्।। वही. पृ० २४१

५. वही, पृ० २४२, २४३, २४४

परिवहन व्यवस्था

इस बात के अनेकों प्रमाण हैं कि प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय व्यापार जल तथा स्थल मार्गों से होता आया है। जल मार्ग के मुख्य माध्यम समुद्र और नदियाँ रही हैं तथा स्थल मार्ग जंगलों, पर्वत श्रेणियों और मरुभूमि से होकर जाते थे। सिन्धु सभ्यता के समय से ही सड़क मार्ग का उल्लेख है और तब निश्चित रूप से इस मार्ग के द्वारा व्यापार होता रहा होगा।

सिन्धु सभ्यता के विषय में जो लिखा गया है उसके अनुसार विलोचिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान आदि देशों से व्यापारिक सम्बन्ध दक्षिण भारत और काठियावाड़ क्षेत्र के थे। लिखा तो यहाँ तक गया है कि पामीर-प्रदेश, तुर्किस्तान, तिब्बत और बर्मा से भी भारत के व्यापार के सम्बन्ध थे। इन देशों को भारत से दूर-दूर तक सड़कें जाती थीं और सामान लेकर व्यापार करने के लिए व्यापारी इधर-उधर जाते थे। व्यापारिक सामान ढोने के लिए ऊँट और गदहों का प्रयोग होता था। तब सम्भवत: बकरी भी व्यापारिक सामान ढ़ोने के लिए प्रयोग में लाई जाती थी।[१]

सिन्धु कालीन सभ्यता में बैलगाड़ियों से सामान के लाने और ले-जाने का प्रचलन था। तब बैलगाड़ियों का आकार-प्रकार भी सम्भवत: आज जैसा ही था। बैलगाड़ियों के चलने से उनके पहियों से जो लीक बनती थी, उसका स्वरूप हड़प्पा की खुदाई में देखने को मिला है।[२] तब के समय में खूब चौड़ी सड़कें होती थीं और उनसे सुव्यवस्थित व्यापार किया जाता था।

वैदिक काल में भी गाड़ी चलाने और उससे सामान लाने

---

1. P. H.P., 174-177
2. वही, P. 176

तथा ले जाने का संकेत है। तब बैल के लिए 'अनड्वान' शब्द का प्रयोग होता था और ऐसा अनुमान है कि इसमें गाएं भी सम्मिलित थीं।[1] ऊँट और गदहे सामान ढ़ोने के काम में लाए जाते थे। चार ऊँटों को एक साथ गाड़ी में जोतने का उल्लेख है।[2] रास्तों के लिए प्रपथ, पथ, महापथ, वर्त्म आदि का नाम प्रचलन में था और इनसे गाड़ी, ऊँट, गदहे आदि से सामान लाया और ले जाया जाता था।[3]

आचार्य कौटिल्य ने भी व्यापारिक मार्ग के विषय में विचार व्यक्त किए हैं और अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत से भिन्न मत देकर यह कहा है कि जलमार्ग की अपेक्षा भूमिमार्ग से व्यापार करना अधिक श्रेयकर है क्योंकि आपत्ति के समय में जल मार्ग को रोका जा सकता है। साथ ही जलमार्ग से सभी वस्तुओं का आना-जाना भी नहीं हो सकता है। स्थल मार्ग की अपेक्षा जलमार्ग भयदायक और बाधा करने वाला भी हैं।[4]

इसी प्रकार से प्राचीन आचार्यों ने यह मत व्यक्त किया है कि व्यापार के लिए उत्तरापथ का क्षेत्र अधिक लाभदायक है क्योंकि इस ओर हाथी, घोड़े, कस्तूरी, दॉत, चांदी, सुवर्ण आदि अधिकता से प्राप्त होते हैं किन्तु कौटिल्य इस मत से सहमत नहीं हैं और वे यह मत व्यक्त करते हैं कि कंबल, चमड़ा और घोड़े छोड़कर हाथी, शंख, हीरा, मोती, मणियाँ और सोना दक्षिणापथ में अधिक उपलब्ध हैं इसलिए व्यापार दक्षिणापथ की ओर ही करना चाहिए।[5]

---

१. ऋक् १०।५९।१०, अथर्व ४।११

२. ऋक् ८।६।४८, अथर्व, २०।१२७।२

३. अथर्व १२।१।४७

४. कौ.अ., पृ० ६२७

५. नेति कौटिल्यः। कम्बलाजिनाश्वपण्यवर्ज्याः शंखवज्रमणि-मुक्तासुवर्णपण्याश्च प्रभूततरादक्षिणापथे। वही, पृ० ६२७

व्यापार के लिए कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है, इस पर आचार्य ने यह दृष्टिकोण व्यक्त किया है कि जो मार्ग आने-जाने में सुगम हो, जिस पर कम कीमत में वस्तुएँ सुलभ हो जाती होवें और जिस पर खरीददारी अधिक होवें, वही श्रेष्ठ मार्ग है।[१]

नाव के द्वारा आना-जाना सम्भव हो और व्यापारिक कार्य भी ठीक से चलें, इसके लिए कौटिल्य यह विधान करते हैं कि नौका परिवाहन का अधिकारी समुद्र तट तथा समीपवर्ती नदी के मार्गों को, गाँवों की झीलों, तालाबों आदि के मार्गों को भली-भाँति देखता रहे।[२]

कौटिल्य के समय व्यापार करने की एक परम्परा का उल्लेख था जिसके अनुसार कारवाँ बनाकर व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापार करने के लिए जाते थे। उस समय के मार्ग में जंगली जातियों, डाकुओं आदि के द्वारा लूटे जाने का भय रहता था जिससे व्यापारी समूह बद्ध होकर यात्रा करते थे और विक्रय के लिए सामान ले जाते थे। राज्य की सीमा के अन्दर राज्य सरकार का यह दायित्व होता था कि वह व्यापारियों की सुरक्षा करे जिसके लिए वह व्यापारियों से कर वसूल करे।[३]

मौर्यकाल में व्यापार के लिए जिन भूमि मार्गों का और जलमार्गों का उल्लेख है उनमें पाटलिपुत्र से मथुरा और सिन्ध प्रदेश तक की सड़क का एवं मेसोपाटमिया तथा मिश्र के जलमार्ग का संकेत है।[४]

इसी प्रकार एक विद्वान यह संकेत करते हैं कि ईसवी शती के आरम्भिक समय में स्थल मार्ग से खैबरदर्रा और आक्सस नदी के किनारे से होकर खींव तक व्यापार होता था।[५] खैबरदर्रे से चीन तक का मार्ग मिलता था और यारकन्द, काशगर आदि नगरों से जाता था।[६]

---

१. कौ.अ. पृ० ६२८
२. वही, पृ० २६१
३. वही २।२१।२४-२५
4.C.H.Vol , P. 516-517
5. I.B.I.W.W., P. 96-99
६. जे. आर.ए. एस.१९४१ P. 299-316

व्यापार का स्वरूप

वस्तुओं का परस्पर आदान-प्रदान करना सम्भवत: समाज का ऐसा व्यवहार रहा है जो तब से प्रचलन में रहा होगा, जब से समाज का गठन हुआ होगा। सभ्यता के आदि काल से ही व्यापार ऐसे ही वस्तुओं के आदान-प्रदान के क्रम से चलता आ रहा है। प्रारम्भ में तो यह अस्त्र-शस्त्रों, खाद्य पदार्थों, पात्रों और वस्त्रों से ही प्रारम्भ हुआ, जो सिन्धु कालीन सभ्यता तक आते-आते विस्तृत वस्तुओं के लिए होने लगा और देश के अतिरिक्त विदेशों तक फैल गया।[१]

आचार्य कौटिल्य ने व्यापार के सन्दर्भ में जो संकेत दिए हैं उनके अनुसार यह लगता है कि उस समय का व्यापार कार्य सम्पूर्ण रूप से राज्य के अधीन था। इसके लिए कौटिल्य व्यापार का एक अधिकारी नियुक्त करने का संकेत करते हैं जो संस्थाध्यक्ष के रूप में कहा गया है। उसके लिए यह कर्त्तव्य होता था कि वह अन्नादि के आयात-निर्यात का यथोचित प्रबन्ध करता था और तराजू, बाँट तथा माप के बर्तनों का निरीक्षण करता था जिससे नाप-तौल में कोई गड़बड़ी न होने पावे।[२] संस्थाध्यक्ष देश में अथवा दूसरे देश में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का मूल्य तय करता था, उनकी बनवाई का समय, वेतन, व्याज और भाड़ा आदि के साथ अन्य खर्चे निकाल कर ही उन वस्तुओं के क्रय-विक्रय का मूल्य तय करता था।[३] इससे न राज्य को किसी प्रकार की हानि होने की सम्भवना होती थी और न ही प्रजा को कोई हानि होती थी।

---

१. प्रा.भा.सा.सां.भू., पृ० ७४७

२. कौ.अ., पृ० ४२९

३. वही, पृ० ४३३

आचार्य कौटिल्य व्यापार के लिए एक अधिकारी पण्याध्यक्ष की नियुक्ति का भी प्राविधान करते हैं। उसके लिए वे लिखते हैं कि वह स्थल तथा जलमार्ग से विक्री के लिए आई वस्तुओं की लोकप्रियता तथा मांग के सम्बन्ध में जानकारी करके वस्तुओं के बेचने के समय का निर्धारण करे। अपने राज्य में जो विक्रय योग्य वस्तु हैं उसका विक्रय एक नियत स्थान पर करे। दूसरे राज्य की वस्तुओं का विक्रय अनेक स्थानों पर किया जा सकता है।[१]

कौटिल्य के संकेत यह कहते हैं कि उनके समय में स्वदेश में व्यापार होने के साथ-साथ परदेश में भी व्यापार की परम्परा थी। वे परदेश के लिए 'पर विषय' शब्द का प्रयोग करते हैं और यह लिखते हैं कि पण्याध्यक्ष को यह जानना चाहिए कि निर्यात की जाने वाली और आयात की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य में कितना अन्तर हैं। तब यह विचार करना चाहिए कि विक्रीकर, सीमांतकर, सुरक्षाकर, मार्ग तथा जल का कर और अन्य खर्चों के बाद क्या बच सकेगा? यदि इसमें लाभ न हो तो अपना माल विदेश में ले जाकर भविष्य में लाभ की प्रतीक्षा करता हुआ रखे।[२]

व्यापार के लिए प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं पर शुल्क लेने का विधान आचार्य कौटिल्य ने किया है। इसके लिए वे राज्य में एक शुल्काध्यक्ष नियुक्त करने के निर्देश करते हैं जो विक्री के लिए ले जाने वाली और लाए जाने वाली वस्तुओं पर शुल्क लेवे।[३]

आचार्य कौटिल्य ने विक्री की जाने वाली वस्तुओं में अन्न, पशु, जिनमें बैल, बकरी, भेड़ आदि आती हैं, की गणना के साथ-साथ शस्त्र, कवच, लोहा, रथ, रत्न आदि का उल्लेख किया है और इन पर शुल्क आदि का विधान करते हुए भी इनकी विक्री

---

१. कौ० अ०, पृ० २०१-२०२
२. वही, पृ० २०३
३. वही, पृ. २२७

को राज्य के हित में विक्रय करने के लिए कहा है।[१] आचार्य कौटिल्य ने यह अवश्य लिखा है कि राज्य को हानि पहुँचाने वाला कोई विष अथवा कोई फल आदि यदि होवें तो राजा उन्हें समाज के हित का ध्यान करके नष्ट करवा दें और यदि प्रजा का उपकार करने वाला तथा कठिनाई से प्राप्त होने वाला धान्य आदि माल हो तो उस पर चुङ्गी न लगाई जावे।[२] इससे देश में माल अधिक आवेगा।

बाहर से जो सामान देश में आता था, आचार्य कौटिल्य के अनुसार उस पर सीमा पर स्थित सीमा चौकी पर शुल्क देना पड़ता था। उस स्थान पर ही शुल्क लेकर उस पर मुहर लगा दी जाती थी जिससे सामान ले जाने में कोई कठिनाई न होवे। यदि कोई शासन द्वारा लगी हुई मोहर में हेरा फेरी करता था अथवा अपने सामान के विषय में झूठी घोषणा करता था तो वह दण्ड का भागीदार बनता था।[३]

प्राचीन भारत में व्यापार के सम्बन्ध में जो संकेत अन्य इतिहासकारों ने किए हैं, वे बहुत ही विस्तृत हैं, और उनसे यह ज्ञात होता है कि देश तथा विदेशों में भी भारत का व्यापार बहुत ही विशाल स्तर पर चलता था।

सिन्धु सभ्यता के समय में ही यह स्थिति थी कि भारत में ही एक-दूसरे प्रदेश में वस्तुऐं आती जाती थीं और बाहर भी उनका व्यापार होता था। जैसे कश्मीर तथा हिमालय के प्रदेशों से देवदारु, शिलाजीत और हिरणों के सींग आते थे। पूर्वी तुर्किस्तान, तिब्बत या वर्मा से हरितमणि आती थी। सुमेरु प्रदेश में अन्य वस्तुओं के साथ भारतीय रुई का निर्यात होता था।[४]

---

१. कौ०अ०, पृ० २३०

२. राष्पीयडाकरं भाण्डमुच्छिन्‍धादफलं च यत्।
महोपकारमुच्छुल्कं कुर्याद्बीजं तु दुर्लभम्।। वही, पृ० २३१

३. वही, पृ० २२९

४. **The Seals suggest that Harappa merchants established in sumerian cities and ingaged in a trade which may well have included cotton goods. P.H.I., P. 174-175, 208**

इसी प्रकार से एक विद्वान् यह लिखते हैं कि चीनी रेशम का व्यापार भारतीय व्यापारियों के हाथ में था। भारत के कोंकण प्रदेश से अनेक वस्तुऐं जंजीवार के टापू में जाती थीं।[1] इसी तरह से एक सन्दर्भ इस प्रकार का दिया गया है जिसमें यह कहा गया है कि रोम के व्यापारी चीनी रेशमी वस्त्र खम्मात की खाड़ी तथा त्रावनकोर के नौ स्थानों से क्रय कर लेते थे।[2] दक्षिण भारत के पाण्डय आदि अनेक प्रदेशों में मलमल बनता था और वह विदेशों में भेजा जाता था। भारतीय मलमल अन्य साधारण कपड़ों के साथ अफ्रीका भेजा जाता था।[3]

गुप्तकाल में भी भारतीय व्यापार का विस्तार पर्याप्त रूप से था जिसमें एशिया के पूर्वी द्वीप-समूह से भारत का व्यापार होता था। इन द्वीपों से भारत में मोती, सोना, चाँदी, हाथी-दाँत, गैड़े, सुपारी, चमड़ा, कपूर, अभ्रक, सींग, चन्दन, चावल, इलायची, दरी और मसाले आदि आते थे।[4]

अरबी व्यापारी भारतीय वस्तुओं को पश्चिमी देशों के अतिरिक्त पूर्वी देशों में ले जाते थे। उस समय काले नमक और कस्तूरी मृग का भी निर्यात होता था।[5] दसवीं शती में भारतीय सुपारी यमन, हज्जाम और मक्के में बहुत चाही जाती थी।[6] रोम से रेशमी क़पड़े, पोस्तीन और तलवारें भारत आती थीं, ईरान का गुलाब जल भारत में बिकता था। अरबी घोड़ों का चाव कारो मण्डल प्रदेश में विशेष रूप से था।[7]

---

1. Moreover, indigenous products such as corn. race, butter oil of sesamum, Coorse and fine cotton goods cone honey are negularly exported from the interior fo Ariaka.......S.P., P.B.

२. वही, पृ. १७२
३. वही, पृ० १७९-१८१
४. प्रा. भा.सा.सां. भू, पृ. ७५४
५. अ.भा.सं., पृ० ६६ से
६. वही, पृ. ६७
७. वही, पृ० ६८

शिल्पकार्य तथा शिल्पियों का व्यवहार :-

कौटिल्य ऐसे समाज का निर्माण चाहते हैं जिसमें सामान्य प्रजा का शोषण कोई न कर सके और सभी अपने-अपने अधिकारों की सुरक्षा के साथ-साथ अपने-अपने कर्तव्यों का पालन भी विधिपूर्वक करें। इसलिए वे शिल्पी समाज में अनेक लोगों को गिनते हैं और यह कहते हैं कि राजा यह देखे कि शिल्पियों के द्वारा प्रजा का शोषण तो नहीं किया जा रहा है। प्रजा शिल्पकार्य करने वालों को उनके श्रम के अनुरूप मजदूरी दे और शिल्पी निर्मित समय कर कार्य कर अपनी कुशलता और ईमानदारी का परिचय दें। आचार्य ने शिल्पियों में सामान्य कारीगरों, जुलाहों, धोबी और दर्जियों,सुनारों, नर-नर्तकी के साथ-साथ वैद्यों को भी गिना है और यह कहा है कि इन्हें विधिपूर्वक अपना कार्य करना चाहिए तथा अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना चाहिए। यदि ये ऐसा न करें तो राजा इन्हें यथोचित दण्ड देने की व्यवस्था करे। इसरूप में राजा ने शिल्पियों में जिनकी गणना की है, वे समाज के एक बहुत बड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और वे ही समाज का सर्वाधिक कार्य भी करते हैं, इसलिए उनके अधिकारों और कर्तव्यों का विवेचन अर्थशास्त्र ग्रन्थ में किया गया है।

आचार्य कौटिल्य यह निर्देश करते हैं कि जो शिल्पी अच्छे स्वभाव वाले होवें और विश्वसनीय ढंग से कार्य कर सकते हों उन्हें ही कार्य करने की अनुमति हो। जो ठीक समय पर काम पूरा न करें और किसी आकस्मिक विपत्ति में न पड़ गए हों, उन्हें काम पूरा न करने के अपराध में दण्डित किया जाना चाहिए जिससे वह सावधान रहें। यदि वह काम बिगाड़ न दे तो जुर्माना भरे अथवा उसकी मजदूरी से दुगना दण्ड दिया जाए।

---

१. कौ.अ., पृ. ४२१

कौटिल्य ने जुलाहे के सन्दर्भ में यह लिखा है कि जुलाहा जितना कपड़ा बुनना चाहता है, वह दस पल सूत उससे अधिक लेवे। इससे अधिक छीजन उसे नहीं निकालना चाहिए। यदि वह इससे अधिक छीजन निकालता है तो उस पर जुर्माना किया जाए जितना सूत हो, उतनी ही उसकी बुनाई दी जानी चाहिए। रेशमी कपड़ों और ऊनी कम्बलों की धुलाई सूती कपड़ों से दुगुनी होनी चाहिए।[१]

धोबी के लिए कौटिल्य यह लिखते हैं कि वह अच्छे लकड़ी के पटे पर अथवा चिकने पत्थर पर वस्त्र धोवे जिससे वस्त्र फटे नहीं। वे कपड़े धोने के समय का भी निर्देश करते हैं और सफेद कपड़ों को एक दिन में, हल्के रंग के कपड़ों को पांच दिन में, गाढ़े रंग के कपड़ों को छह दिन में, रेशम बेल बूटेदार कपड़ों को और अधिक दिन में धोकर देने का विधान करते हैं।[२]

इसी प्रकार दर्जियों का जो कार्य है, उसे करने के लिए भी कौटिल्य के नियम हैं। वे नियम भी उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के नियम धोबियों के लिए बनाए गए हैं।[३]

स्वर्णकार जिन्हें आचार्य कौटिल्य सुवर्णकार के नाम से लिखते हैं, समाज के एक ऐसे शिल्पी हैं जो मूल्यवान धातुओं का काम करते हैं तथा समाज के सभी लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनसे काम लेते हैं इसलिए ही सम्भवत: कौटिल्य ने उनके लिए कठोर दण्ड का प्राविधान किया है और यह निर्देश दिया है कि वे जो कुछ भी खरीद करें, अथवा बिक्री करें, उसकी जानकारी शासन के प्रतिनिधि को अवश्य दें। ऐसा न करने पर दण्ड के भागीदार होंगे।[४]

---

१. तन्तुवाया दशैकादशिकं सूत्रं वर्धयेयु:। वृद्धिच्छेदे छेदद्विगुणो दण्ड:। कौ.अ., पृ. ४२२
२. वही, पृ. ४२३
३. वही, पृ. ४२४
४. वही, पृ. ४२४

सोने का काम करने वाले के लिए यह व्यवस्था है कि वह ग्राहक से जितना माल हो उतना ही माल उसको लौटावे। उसमें किसी प्रकार की कमी न करे। आचार्य कौटिल्य उसके लिए पर्याप्त मजदूरी देने का भी विधान करते हैं। वे लिखते हैं कि सोने का जो मूल्य है, बनवाई उसकी कीमत का आँठवा हिस्सा देना चाहिए।[१] ताबें के मूल्य का दसवाँ हिस्सा मजदूरी में देना चाहिए और उसके लिए कुछ अंशछीजन का भी छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार से सीसे आदि की बनवाई और उसके छीजन घूटने की बात कौटिल्य लिखते हैं।

आचार्य नटों और नर्तकों को भी समाज का एक महत्वपूर्ण अंग मानते हैं और उन्हें शिल्पी अर्थात् कलाकार के रूप में गिनते हैं। वे इन शिल्पियों के लिए भी नियम निर्देश करते हैं। वे लिखते हैं कि वे प्रजा का भरपूर मनोरंजन अपनी कलाओं से करें और उचित पारिश्रमिक लेवें। किन्तु उनके लिए भी यह विधान है कि वे किसी से अधिक पारिश्रमिक न लेवें। नट जिस प्रकार से नियमबद्ध रीति से काम करते हैं, उसी प्रकार से अन्य नाचने-गाने वालों के लिए भी नियम समझना चाहिए।[२]

आचार्य कौटिल्य वैद्यों को शिल्पी मानकर इनके लिए भी नीति-नियमों का विधान करतें हैं और यह लिखते हैं कि राजा को बिना सूचना दिए वैद्य को ऐसे रोगी का उपचार नहीं करना चाहिए जो मरणासन्न हो और यदि वैद्य के द्वारा ऐसी स्थिति में उपचार किये जाने पर रोगी मर जाएँ तो वैद्य दण्ड का भागीदार होगा। इसी तरह से यदि वैद्य के गलत उपचार से किसी रोगी को क्षति होती है तो भी वैद्य दण्ड का भागीदार बनेगा।[३] ये नियम आज भी किसी न किसी रूप में हमें प्रभावी दिखते हैं।

---

१. कौ. अ., पृ. ४२५

२. वही,पृ. ४२८

३. वही, पृ. ४२७

व्यय और लाभ का विचार

आचार्य कौटिल्य ने सामान्य रूप से व्यय और लाभ का विचार तो किया है, साथ ही उन्होने राजा के दृष्टिकोण से भी व्यय और लाभ का विचार भी किया है। वे जब व्यापार के सन्दर्भ में लाभ और हानि पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं तो कृषि और व्यवसाय दोनों को देखने के उसके अधिकारियों की नियुक्ति का विधान करते हैं और यह अपेक्षा करते हैं कि ये अपने-अपने क्षेत्र के कुशल ज्ञाता हों और इनके कुशल निर्देश में न केवल राज्य को आर्थिक लाभ प्राप्त हो अपितु प्रजा में भी राजा के प्रति सन्तुष्टि रहे।

व्यापार के सम्बन्ध में वे पण्याध्यक्ष के लिए यह लिखते हैं कि वह जब किसी वस्तु को विक्रय के लिए प्रस्तुत करे तो अपने व्यापार कौशल से पहले से वस्तु का मूल्य बढ़ा दे और बाद में जब उससे उचित लाभ हो जाए तो उस कम करके बेंच देवे।[१] इससे राज्य को लाभ भी हो और वस्तु सर्वसुलभ भी हो जावे।

लाभ की इस दृष्टि में कौटिल्य ने यह दृष्टिकोण कदापि नहीं दिया है कि राजा को और राज्य को हर दृष्टि से लाभ ही हो जाना चाहिए। वे यह विधान करते हैं कि किसी विक्री की जाने वाली वस्तु में यदि लाभ की सम्भावना बहुत अधिक है और प्रजा को उससे कष्ट हो रहा है तो राज्य को उसकी विक्री तत्काल रुकवा देनी चाहिए।[२] आज शासन इस नीति का पालन नहीं कर रहा, तभी शराब आदि मादक पदार्थों की विक्री लाभ की प्राप्ति देखकर की जा रही है। इसमें समाज को होने वाली हानि पर विचार नहीं किया जा रहा। विदेश व्यापार के सम्बन्ध में भी लाभ का विचार तो कौटिल्य ने किया है किन्तु प्रजा के हित पर कभी भी कुठाराघात नहीं होने दिया और प्रजा के लाभ का ध्यान हर समय किया है।[३]

---

१. यच्च पण्यं प्रचुरं स्यात्तदेकीकृत्धर्मारोपयेत्। प्राप्तेऽर्घे वार्धान्तरं कारयेत्।
कौ.अ., पृ० २०१

२. वही, पृ० २०२

३. वही, पृ० २०३, २०४

राजा की दृष्टि से आचार्य क्षय, व्यय और लाभ पर एक अध्याय ही लिखते हैं। इसमें वे यह लिखते हैं कि हाथी, घोड़े, सवारी और यज्ञकर्मचारियों की हानि को क्षय कहा जाता है अर्थात इसकी हानि राजा के लिए क्षयकारक हैं। इसी प्रकार हिरण्य अर्थात(स्वर्णादि) तथा धान्य के नाश को व्यय कहते हैं।[१] यह एक प्रकार से क्षय और व्यय की नई परिभाषा है और राजा के सम्बन्ध में विशेष रूप से लागू होती है।

क्षय और लाभ का यह दृष्टिकोण देकर कौटिल्य विजय की इच्छा रखने वाले राजा के लिए यह निर्देश करते हैं कि वह इसका विचार करके जब अपनी स्थिति को सुदृढ़ समझे, तब शत्रु राजा पर आक्रमण कर दे।

आचार्य कौटिल्य ने लाभ के बारह गुणों के नाम दिए हैं। ये हैं- आदेय, प्रत्यादेय, प्रसादक, प्रकोपक, हस्तकाल, तनुक्षय, अल्पव्यय; महान्, बृद्ध्युदय, कल्प, धर्म और पुरोग। आचार्य ने इन सब का विवरण भी इसी अध्याय में दिया है और इनके लक्षण लिखे हैं।[२]

आचार्य कौटिल्य लाभ के इस स्वरूप की व्याख्या करने के पश्चात् यह भी लिखते हैं कि दोनों पक्षों में यदि लाभ बराबर दिखाई देवे तो ऐसा लाभ प्राप्त करना चाहिए। इससे देश, काल, शक्ति, प्रियाप्रिय भविष्य में लगातार बृद्धि जैसे गुण प्राप्त होते हैं।[३] इस प्रकार के लाभ में काम, क्रोध, प्रगल्भता, दंभादि से बाधा भी आ सकती है।[४] इसलिए इस विषय में सावधान रहना चाहिए।

अन्त में आचार्य यह लिखते हैं कि धन तथा आवश्यक उपायों से रहित व्यक्ति सैकड़ों यत्न करने पर भी अपने अभीष्ट फल को प्राप्त नहीं कर पाता। अर्थ का सम्बन्ध अर्थ से ही होता है जैसे एक हाथी दूसरे को वश में कर लेता है उसी तरह अर्थ को जानना चाहिए।[५]

---

१. युग्यपुरुषापचयः क्षयः। हिरण्यधान्यापचयो व्ययः। कौ.अ.,पृ० ७४७

२. वही, पृ० ७४७ ३. वही, पृ० ७५०

४. वही, पृ० ७५०

५. नाधनाः प्राप्नुवन्यर्थाकरा यत्नशतैरपि।

अर्थैः अर्थाः प्रबध्यते गजाः प्रतिगजैरिव।। वही, पृ० ७५१

व्यापारी और प्रजा

कौटिल्य का यह अभिमत रहा है कि राजा प्रजा के लिए ही है और राजा का हित प्रजा के हित में हैं।[१] इसलिए वे यह विधान करते हैं कि राजा ऐसी व्यवस्था करे जिससे प्रजा व्यापारियों के व्यवहार से पीड़ित न होने पाये। इसके लिए वे बाजार के अध्यक्ष की नियुक्ति का विधान करते हैं और यह लिखते हैं कि उसे चाहिए कि वह व्यापारियों की तराजू, बाँट और माप-तौल के अन्य साधनों का निरीक्षण हर समय करता रहे जिससे व्यापारी अन्यथा आचरण न कर पावे।[२]

व्यापारी के लिए केवल यह नियम नहीं था कि वह सामान की तौल उचित मात्रा में करे और इसमें कोई गड़बड़ी न करे अपितु उनके लिए यह विधान भी था कि वे घटिया माल को यदि अच्छा कहकर बेंचे तो भी उन्हें राज्य के नियमों के अनुरूप दण्डित किया जाना चाहिए।[३]

आज की व्यवस्था में जिसे कालाबाजारी करना कहते हैं और जिसके अनुसार व्यापारी किसी एक वस्तु को कुछ समय तक रोककर बाद में उसे अधिक मूल्य में बेचने लगते हैं, तो इस सम्बन्ध में भी कौटिल्य का यह निर्देश है कि ऐसे व्यपारियों को राजा दण्ड देने की व्यवस्था करे।[४]

अनाज, तेल, नमक और दवाईयाँ ऐसी वस्तुयें हैं जो प्रजा के लिए आवश्यक हैं, इसलिए इनकी उपलब्धता जिस प्रकार बनी रहे, राजा वैसी व्यवस्था करे और इसमें जो व्यापारी बाधक बन रहे हों, उनके लिए दण्ड की व्यवस्था करे।

कौटिल्य ने यह निर्देश भी किया है कि राजा व्यापारियों पर दवाव बनाये रखने के लिए अथवा

---

१. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्माप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु त्रियं हितम्।। कौ. अ.,पृ. ७७

२.वही, पृ. ४२९

३.वही. पृ. ४३०

४वही, पृ. ४३१

५वही, पृ. ४३१

वस्तुओं की उपलब्धता के लिए वह अपने द्वारा नियुक्त व्यापारी से भी कुछ वस्तुओं की विक्री करा सकता है। इस कार्य में लगे हुऐ व्यापारियों और श्रमिकों को उचित मूल्य दिया जाये। यह अवश्य कौटिल्य की अपेक्षा है इससे समाज और राज्य में सुव्यवस्था बनी रहती है।

समीक्षा

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष साधन चतुष्टयों में अर्थ की महत्ता को सभी ने स्वीकार किया है, इसलिए आचार्य कौटिल्य अपने ग्रन्थ का नामकरण ही अर्थ के शास्त्र के रूप में करते हैं। इसमें राजा को लक्ष्य बनाकर जो भी कहा गया है वह समाज के संदर्भ में उसे संस्कारित करने के लिए कहा गया है। इसलिए इसमें आर्थिक विचार करते समय भी समाज को ही ध्यान में रखा गया है।

आचार्य कौटिल्य ने इसीलिए दाय का नियमों-उपनियमों का निर्धारण कर उसे पैतृक क्रम से प्राप्त करने का विधान लिखा है। वे ऋण धरोहर और सभी के लिए पारिश्रमिक की व्यवस्था का निरूपण करते हुए अर्थ के मुख्य हेतु व्यापार का भी विस्तार से विचार करते हैं और इसमें वे सभी को समाहित कर एक ऐसे समाज की परिकल्पना करते हैं जो आर्थिक रूप से सम्पन्न हो किन्तु जिसमें सभी के अधिकार भी सुरक्षित होवें।

---

१. कौ. अ., पृ. ४३२-४३३
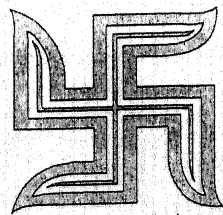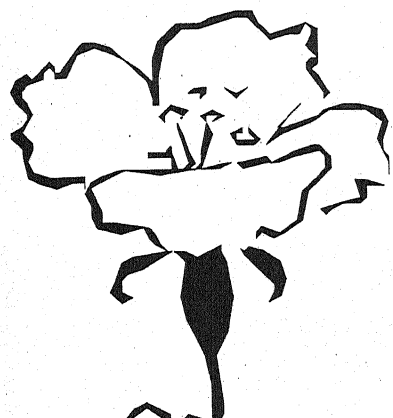
तृतीय अध्याय

(राजा तथा राज्य

की
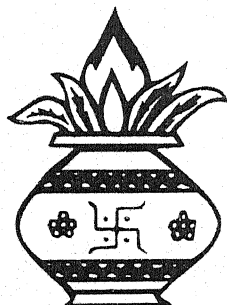
अवधारणा)

तृतीय अध्याय

(राजा तथा राज्य की अवधारणा)

राजा की कल्पना, राजा के कर्तव्य, राज्य की अवधारणा, राजा की वैधानिक शक्तियाँ, पुरोहित तथा अमात्य, राजा और राजपुत्र, मन्त्रिपरिषद्, राज्य का प्राचीन स्वरूप, जनपद, नगर, राष्ट्र, राज्य और राष्ट्र, राष्ट्र की अधुनातन परिकल्पना, कौटिल्य की दृष्टि में राजा और राज्य, समीक्षा तथा निष्कर्ष।

तृतीय अध्याय
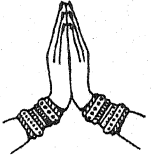
(राजा तथा राज्य की अवधारणा)
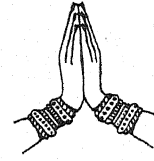
संस्कृत व्याकरण के अनुसार शोभा देने के अर्थ में 'राजृ' धातु से औणादिक कनिन् प्रत्यय के संयोग से राजा शब्द सिद्ध होता है[१]। इस सिद्धि के अनुसार राजते शोभते इति राजा-ऐसा कथन किया जाता है जिसका अर्थ होता है एक ऐसा व्यक्ति जो शोभा सम्पन्न हो। राजा शब्द को लेकर एक अन्य अर्थ एक प्रसिद्ध संस्कृत कोश में किया गया है जिसे 'रंजयति' शब्द से व्यक्त किया गया है और जिसका अर्थ यह है कि जो रंजन करता है[३], वह राजा है। अब रंजन प्रजा का ही सम्भावित है क्योंकि राजा प्रजा पर शासन करता है इसलिए वह प्रजा का ही रंजन करता है।

अन्य संदर्भों में भी राजा शब्द से जो अर्थ प्रकट किया गया है उसके अनुसार यह कहा गया है कि राजा पितृवत होता है। अर्थात् जिस प्रकार पिता पुत्रों का अनुरंजन करता है, राजा तद्वत प्रजा का अनुरंजन करता है। प्रजा के प्रति राजा को अनुराग है, उसी के कारण वह शोभा पाता है और उसी शोभा से वह राजा कहा जाता है[४]। एक दूसरा सन्दर्भ प्राचीन समय का और भी है जिसमें राजा प्रथु के प्रजा पालन का सन्दर्भ ग्रहण करते हुए यह कहा गया है कि उस राजा के लिए प्रजा पुत्रवत है, इसलिए कभी ऐसा नहीं हुआ कि उसने पुत्रवत प्रजा का पालन न किया हो[५]।

राजा शब्द के जितने पर्याय मिलते हैं उनमें से यदि देखा

---

१. सि०कौ०उणादिप्रकरण १/१५४
२. सं०श०कौ०, पृ० ९७३
३. वाचस्पत्यम् भा०६, पृ० ४८०२
४. वि०पु० (१) अ० १३
५. प०पु० भूखण्ड, अ० २९

जाए तो अधिकतर पर्यायों का भावार्थ यही निकलता है कि राजा प्रजा के लिए ईश्वरवत है, प्रजा पालक है, पृथिवी का अधीश्वर है, मनुष्यों का स्वामी है, मनुष्यों के लिए इन्द्र जैसा है। राजा के लिए इस रूप में जो पर्याय दिए गए हैं उनमें सम्मिलित हैं- नृपतिः, भूपतिः, भूपाल, महीपतिः, नरेश्वर, नरेन्द्र, अवनीश, क्षितीश आदि[१]।

राजा की इस अवधारणा के सम्बन्ध में जो प्रारम्भिक संकेत किए गए हैं, उनमें भी राजा शब्द का यही अभिप्राय प्रकट होता हुआ दिखाई दे रहा है। जैसे कि ऋग्वेद में यह उल्लेख है कि राजा त्रसदस्यु ने अपने सम्बन्ध में यह कहा कि मैं प्रजा का राजा हूँ, वरुण हूँ। देवताओं ने मुझे असुरों का नाश करने वाली शक्तियाँ प्रदान की हैं[२]। एक अन्य सन्दर्भ भी इसी प्रकार का है जिसमें यह कहा गया कि राजा के द्वारा मनुष्य विधृत होते हैं[३]। अर्थात् राजा मनुष्यों को भली प्रकार धारण करता है। जिसका अभिप्राय है प्रजा भली प्रकार पालन करना।

इसी प्रकार से एक अन्य उदाहरण से भी यही ज्ञात होता है कि राजा की शोभा तभी है जब वह प्रजा के अभ्युदय के लिए कार्य करता रहे[४]। यदि राजा प्रजा के जीवन-विकास और उसकी सुरक्षा के लिए कार्य नहीं करता तो राजा की शोभा नहीं होती। एक और सन्दर्भ ऐसा है जिसमें राजा को प्रजा की रक्षा का हेतु कहा गया है और वहां पर प्रजा के रूप में ब्राह्मण का नाम लिया गया है और आचरण के रूप में धर्म का संकेत किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र के अभिषेक के समय ऐसी ही कल्पना है जिसमें इन्द्र को ब्राह्मण गोप्ता और धर्म गोप्ता कहा गया है[५]।

---

१. इ०सं०डि०, पृ० ४२७
२. ऋक् ४/४२
३. तस्माद् राज्ञा मनुष्या विधृताः। तै०सं० २/६/२/२
४. श० ब्रा० ५/४/४/१४
५. ऐ० ब्रा० ८/१२

वेद के एक अन्य सन्दर्भ में यह देखने को मिलता है कि प्राचीन समय में जब राजा का राज्याभिषेक होता था तो उस समय यह कहा जाता था कि राष्ट्र की यह पुनीत थाती तुम्हें सौंपी जा रही है। इसके संचालक, नियामक और उत्तरदायी तुम हो। इसका ठीक-ठीक संचालन हो-ऐसा तुम्हारा प्रथम कार्य है। यह राज्य तुम्हें कृषि के कल्याण, सम्पन्नता और प्रजा के पोषण के लिए दिया जाता है[१]। वेदों से तो अनेकों उदाहरण इस प्रकार के दिए जा सकते हैं जिनसे राजा के शोभार्थक अर्थ को व्यक्त किया गया है और यह कहा गया है कि शोभार्थक जीवन उसी राजा का है जो प्रजा के कल्याण के लिए प्रयत्न करता है, मानवों का अभ्युदय करता है, अपने शासन से सभी को सौभाग्यशाली बनाता है[२]। महर्षि वेद व्यास ने महाभारत में भी राजा के लिए जिन कर्मों का संकेत किया है, उनमें प्रजा की रक्षा करना और उसी से शोभित होना मुख्य है[३]। महर्षि मनु ने अपनी प्रसिद्ध कृति मनु स्मृति में इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है जिसमें यह कहा है कि जिस प्रकार से पूर्णचन्द्र को देखकर मनुष्य हर्षित होते हैं, उसी प्रकार से यदि राजा को देखकर प्रजा प्रसन्न होती है तो वह राजा शोभित होता है। मनु राजा के लिए लिखते हैं कि राजा को पृथिवी की भाँति मानवों का भरण-पोषण करना चाहिए[४]। आचार्य कौटिल्य स्वयम् भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं जिसमें वे यह लिखते हैं कि जो विद्वान् राजा प्राणिमात्र की हित कामना में लगा रहता है और प्रजा के शासन तथा शिक्षण में तत्पर रहता है, वह चिरकाल तक पृथिवी का निर्वाध शासन करता है[५]।

---

१. शु० य० वे० ९/२२
२. ऋक् ५/८५/३, १/२५/१५, २/२५/२
३. म०भा० शां० प० १५/१३
४. म०स्मृ० ७/२८, ३०,३१,४४
५. कौ०अ०,पृ० २०

विद्वानों और विचारकों ने यह कहा है कि प्रारम्भ में जब समाज की परिकल्पना हुई होगी तो उसी के साथ यह भी आवश्यकता हुई होगी कि समाज के पथ प्रदर्शन के लिए, इसमें अनुशासन बनाए रखने के लिए और विधि व्यवस्था की स्थापना के लिए कोई ऐसा व्यक्ति हो जो इस समाज को चला सके। तब, इसकी पूर्ति के लिए राजा की कल्पना हुई और उस समय की स्थिति के अनुसार जो भी श्रेष्ठ और समर्थ व्यक्ति हुआ उसे राजा कहा गया तथा उससे अपेक्षा की गई कि वह प्रजा का भली प्रकार पालन करे और राज्य के रूप में जो दायित्व उसके पास हैं उनका निर्वाह करे। राजा शब्द से शोभा और प्रजा रंजन के जो प्राचीन अभिप्राय हैं, उनसे भी यही ध्वनि निकलती है कि वही राजा शोभित होता है जो प्रजा रंजन का काम मुख्य रूप से करता है।

इस रूप में यदि देखा जाए तो राजा शब्द से जो ध्वनित होता है और जिसकी कल्पना प्रारम्भिक समाज में की गई होगी, उसके अनुसार राजा का दायित्व होता था कि वह अपनी प्रजा का पालन करे, राज्य का भली भाँति विकास करे, जो शत्रु प्रजा का अथवा राज्य का अहित करते हों, उनका विनाश करे। यह सब करता हुआ भी राजा अपने शील और सौन्दर्य से युक्त होवे। राजा रक्षण और पालन में दक्ष होता हुआ भी यदि अपने शीलवान् आचरण से प्रतिष्ठित नहीं है तो वह शोभित नहीं हो सकेगा। यदि ऐसा न होता तो मनु कभी भी यह नहीं लिखते कि राजा के शरीर में इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र एवं कुबेर का निवास होता है[1]। देवों का जो स्वभाव है वही स्वभाव यदि राजा का है और वह देववत यदि सभी का पालन पोषण करता है तभी वह शोभा पाता है और राजा शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है।

---

१. सं०सा०रा०भा०, पृ० ३२

राजा के कर्तव्य

कौटिल्य अर्थशास्त्र में धर्म को दो प्रकार से कहा गया है। एक विशेष धर्म के रूप में और दूसरा सामान्य धर्म के रूप में। वहां यह कहा है कि अपने-अपने विशेष वर्ण और आश्रम में रहने वाले के लिए जो कर्तव्य निर्धारित किए गए हैं, वे ही उसके लिए विशेष धर्म हैं। इसके अतिरिक्त सत्य, अहिंसा, क्षमा, आनृशंस्यादि जो गुण हैं, वे सभी के लिए पालनीय हैं और वे सभी के लिए होने के कारण सामान्य धर्म हैं[१]। इस रूप में वहां जो कहा गया उससे यह ज्ञात होता है कि धर्म कर्तव्य रूप में आचार्य कौटिल्य को स्वीकार हैं।

धर्म की इसी महनीय स्थिति का संकेत बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि राजा के सदृश निर्बल व्यक्ति भी बलवानों पर धर्म के द्वारा ही शासन करता है[२]।

इसके साथ ही विचारक यह मानते हैं कि विधि के द्वारा ही राज्य का संचालन होता है। विधि की व्यवस्था यदि न हो तो राज्य का कार्य नहीं चल सकता। निर्बल व्यक्ति में भी जब राज्य संचालन की क्षमता आती है तो उसके मूल में विधि ही होती है। संहिता काल में धर्म की स्थिति ऋत के रूप में थी। ऋत का अभिप्राय व्यवस्थित नियमों का विनियोग था। इसी को उत्तम गमन और निश्चित नियम भी कहा गया है[३]। समाज की लोकहित सम्बन्धी समस्यायें पहले ऋत के द्वारा निर्णीत होती थीं और बाद में इसी ऋत को धर्म कहा गया, जिसे आचार्य कौटिल्य ने कर्तव्य रूप से व्याख्यात किया। इस रूप में यदि देखा जाए तो विधि अथवा धर्म के द्वारा ही राजा प्रतिष्ठित होते थे और प्रजा विधि द्वारा ही राजा के आदेशों का पालन करती थी, जिससे राज्य संचालित होते थे और प्रजा सुख का अनुभव कर पाती थी। इसमें राजा और प्रजा का कर्तव्य रूप धर्म समाहित था।

---

१. कौ० अ०,पृ० १२-१४
२ बृ० उ० १/४/१४
३. प्रा० रा० न्या०, पृ० ६-७

राजा के तत्कालीन कर्तव्यों के विषय में जो भी ज्ञात होता है उसके अनुसार राजा का प्रथम कर्तव्य है कि वह सभी प्रकार से प्रजा का रक्षण करे। व्यास, मनु, कालिदास आदि यही संकेत करते हैं कि राजा प्रथम रूप से अपना कर्तव्य मानकर प्रजा की रक्षा करे[१]। प्रजा की रक्षा करने से तात्पर्य है कि राजा चोर-डाकुओं से तथा अन्य प्रकार के आक्रमणों से प्रजा की रक्षा करे जिससे प्रजा के प्राण और उसकी संपत्ति संकट में न पड़े। मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्राचार्य आदि आचार्यों ने जो भी लिखा है, उसके अनुसार राजा के कर्तव्यों को हम चार रूपों में देख सकते हैं। जैसे राजा का एक कर्तव्य है और प्रथम कर्तव्य हैं- प्रजा की रक्षा करना और उसका विधिपूर्वक पालन करना। उसका दूसरा कर्तव्य हैं- वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करना और प्रजा से भी उनका पालन कराना[२]। राजा का तीसरा कर्तव्य है-दुष्टों के लिए समुचित दण्ड का विधान करना और राजा के लिए चौथा कर्तव्य है प्रजा के समक्ष न्याय करना और न्याय की मर्यादा की रक्षा करना।

आचार्य कौटिल्य तो स्पष्ट रूप से यह लिखते हैं कि राजा के लिए स्वयं को प्रसन्न करना हितकर नहीं है। उसका तो परम हित तभी है जब उसके द्वारा प्रजा का परमहित हो[३]। एक पुराणकार भी यह कहता है कि राजा का शरीर भोग करने के लिए नहीं है। उसका शरीर तो क्लेश सहन करके भी अपने धर्म का पालन करना है[४]।

---

१. म०भा० शां० प० ६८/१-४, म०स्मृ० ७/१४४, रघु० १४/६७

२. कौ०अ०, पृ० १४

३. प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।। वही, पृ० ७७

४. राज्ञां शरीरगृहणं न भोगाय महीपते।
क्लेशाय महते पृथिवी स्वधर्मपरिपालने।। मार्क० १३०/३३-३४

राजा के कर्तव्य को राजधर्म के रूप मे भी कहा गया है। यही कारण है कि प्रजा के पालन एवं राज्य के संचालन के लिए राजा के चरित्र को नियन्त्रित करने के लिए कुछ नियमों का कथन किया गया है। राजा कभी अपने चरित्र में और कर्तव्य-पालन में उच्छृङ्खलन होवे इसीलिए उनके लिए सामान्य नियम और विशेष नियम भी कहे गए हैं। ये नियम दो प्रकार के थे एक वैयक्तिक और दूसरे सार्वजनिक। वैयक्तिक कर्तव्यों में आत्म नियंत्रण, आचरण, धर्म नीतियों का पालन और वैयक्तिक सुरक्षा सम्मिलित थे[१]। सार्वजनिक कर्तव्य में नीति निर्धारण, दण्ड विधान सम्मिलित थे जिनका सीधा सम्बन्ध प्रजा से था।

राजा के ऐसे ही कर्तव्यों के संबंध में वेद का जो निर्देश है, उसमें यह कथन है कि राजा को प्रजा का प्रिय, प्रजा का पालक तथा राज्य में सुख-समृद्धि और धन-धान्य की बृद्धि करने वाला होना चाहिए। उसके द्वारा की गई राज्य व्यवस्था ऐसी हो जिससे प्रजाजन धर्मादि कार्यों में लगे रहें और सभी अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वाह करें[२]।

एक विद्वान् ने यह मत व्यक्त किया है कि राज धर्म के सामान्य तथा आपद्धर्मों में सामान्य धर्म ही सार्वकालिक होता है। क्योंकि जो विपत्ति राजा पर आती है, उससे केवल राजा ही प्रभावित नहीं होता अपितु उसका प्रभाव सम्पूर्ण प्रजा पर पड़ता है इसलिए आपद् धर्म का निर्वाह राजा को कभी-कभी ही करना पड़ता है। वस्तुतः सामान्य धर्म के ही दो विभाग हैं- एक वैयक्तिक कर्तव्य रूप तथा दूसरा सार्वजनिक कर्तव्य रूप[३]।

---

१. ध्यो० एशि० इ०, पृ० ७५
२. अथर्व ३/४/१-३
३. क० जी० द० / पृ० ११२

राजा के कर्तव्यों में जो उसके वैयक्तिक कर्तव्य हैं, उनमें उसके जीवन की शुचिता को बहुत महत्त्व दिया गया है और प्रारम्भ से ही यह संकेत किया गया है कि राजा ब्रह्मचर्य से युक्त हो, तपस्वी हो, क्योंकि ऐसा राजा ही राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है[१]। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा के लिए जिन कर्तव्यों का संकेत है, उनमें यह कहा गया है कि राजा राष्ट्र भृत है अर्थात् वह राज्य का भरण-पोषण करने वाला है। उसका कार्य है सूर्य की भाँति तपना और प्रजा को ऊर्जा तथा शक्ति देना[२]। उसके कार्य से प्रजा को किसी भाँति आन्दोलित नहीं होना चाहिए। वह ऐसा कार्य करे जिससे प्रजा की रक्षा हो। वह प्रजा का रक्षक होने के साथ-साथ धर्म का भी रक्षक है[३]। अन्य आचार्यों में गौतम, वशिष्ठ आदि ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं जिनमें यह कहा है कि राजा का काम है सभी प्राणियों की रक्षा करना, उचित दण्ड की व्यवस्था करना और सभी को प्रेरित करना जिससे वे अपने-अपने कर्तव्य पथ पर अविचल भाव से चलें।

स्मृतिकारों का भी यह निर्देश है कि प्रजा की रक्षा करना ही क्षत्रियों का धर्म है। जो शास्त्रोक्त विधान से यह कार्य करता है वह धर्म के फल का भोक्ता होता है[५]। याज्ञवल्क्य ने राजा की विशिष्टता और उसके कर्तव्यों को जिस रूप में कहा है[६], उसमें हम कौटिल्य के विचारों को अधिक समान देख सकते हैं।

---

१. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। अथर्व ५/१/७
२. ऐ० ब्रा० ७/३४
३. वही ८/१२
४. गौ० ध०सू० ११/६/१०; व०ध०सू० १६/१-२; म०भा०शां०प० २५/३२-३४
५. म०स्मृ० ७१४४
६. या०स्मृ० आचाराध्याय ३०८-३११

आचार्य कौटिल्य ने जिस प्रकार से राजा के कर्तव्यों का कथन किया है उसमें वे दो प्रकार से इसका वर्णन करते हैं। एक प्रकार से वे यह लिखते हैं कि राजा को वैयक्तिक रूप से अपनी दिनचर्या को इस प्रकार से बाँट लेना चाहिए कि उसके द्वारा जिन कर्तव्यों का निर्वाह किया जाना है, वे स्वयम् ही होते रहें। जैसे वे लिखते हैं कि राजा अपने कार्य को व्यवस्थित ढंग से करने के लिए दिन और रात के समय को आठ घड़ियों में बांट ले। इसमें यह पूर्वार्ध में रक्षा संबंधी कार्यों का निरीक्षण करे और बीते हुए दिन में आय-व्यय की जांच करे। दूसरे भाग में पुरवासियों के कार्यों का निरीक्षण करे और बाद में मध्यान्ह के समय में भोजन और स्वाध्याय करे।

उत्तरार्द्ध के समय में वह अपने मन्त्रियों आदि के सहयोग से पत्राचार करे तथा और कार्य करता हुआ वह दिनांत में सेनापति के साथ युद्ध आदि का विचार करे।

इसी तरह का उसके समय का विभाजन रात्रि का भी होवे जिसमें वह दिन के किए गए कार्यों का पुनरीक्षण, गुप्त मन्त्रणादि करे[१]।

राजा अन्य जो कार्य करता है, जिसमें उद्योग के लिए व्यवस्था करना, यज्ञ करना, दान देना, शत्रु और मित्रों में गुणावगुण का विचार करके उनके साथ व्यवहार करना आदि उसके लिए नैमित्तिक व्रत कहे गए हैं[२]। और इसी दृष्टि से यह कहा गया कि राजा अपने जीवन में पूरी तरह से प्रजा के लिए समर्पित हो और वैयक्तिक जीवन में शुचिता का व्यवहार करे।

---

१. कौ०अ०, पृ०७५

२. राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम्।
दक्षिणा वृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम्।। वही, पृ० ७७

राज्य की अवधारणा

वृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म से क्षत्र की उत्पत्ति बताते हुए ब्रह्म को श्रेष्ठतम रूप में कहा गया है। वहां पर ब्रह्म शब्द ब्राह्मणों और चिन्तकों अथवा परम तत्त्व का द्योतक माना जा सकता है जबकि क्षत्र शब्द प्रभुत्व और शासन की शक्ति को घोषित करता है। सामान्य रूप से क्षत्र शब्द त्राण करने के अर्थ में अथवा प्रशासन के अर्थ में भी लिया जा सकता है। यद्यपि ब्रह्म और क्षत्र शब्दों को लेकर कुछ विद्वान् परस्पर विरोधी विचार व्यक्त करते हैं[१]। तथापि राज्य में चिन्तक और रक्षक दोनों की ही अपेक्षा होती है। यदि किसी बिना विचार के समाज का संगठन होगा तो राज्य चलाना सम्भव नहीं हो सकेगा। ब्रह्म अर्थात् विचारकों की महत्ता इसलिए भी है कि उन्हीं के विचारों का प्रयोग प्रशासन में होता है। उपनिषदों का यही दृष्टिकोण विद्वानों को स्वीकार्य है कि राज्य संस्था का निर्माण मेधावी तथा चिन्तन शील विचारकों द्वारा हुआ है[२]।

ऐतरेय ब्राह्मण में देवों और असुरों के संघर्ष की कथा का संकेत भी किया गया है[३] जिन्हें कुछ विचारक आर्यों और अनार्यों के रूप में कहते हैं। इस संग्राम में देवताओं ने पराजित होने पर यह कहा था कि हमारा कोई राजा नहीं है जिससे हमारी पराजय हुई है। इस रूप में हम यह कह सकते हैं कि युद्ध और उसकी अपरिहार्यता के लिए राजा और उसके राज्य की परिकल्पना का होना स्वाभाविक है।

राज्य की परिकल्पना के सम्बन्ध में पश्चिम के कुछ विद्वानों की धारणा के अनुकूल ही भारतीय विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि यदि समाज राज्य विहीन होगा तो राजा की अनुपस्थिति में अराजकता का साम्राज्य होगा। जिस प्रकार से एक बड़ी मछली अपने से छोटी मछली को खा जाती है

---

१. वै०इ० भाग (१), पृ० २०२, भाग (२), पृ० १७७

२. उ०स०सं०, पृ० ३५

३. ऐ०ब्रा० १/१/१४

उसी प्रकार से हर बलवान् व्यक्ति छोटे का शोषण करने लगेगा और अराजकता से समाज ही नहीं चल सकेगा। इसी प्रकार से राज्य की व्यवस्था न होने पर धर्म, अर्थ, काम का नाश हो जाएगा और राजा भी धर्म से विमुख हो जाएगा। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के लोग अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के लिए निर्धारित कर्म तो करेंगे नहीं, इसके विपरीत वे सभी एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप करने लगेंगे। राज्य विहीन समाज का कार्य-व्यापार मन्द हो जाएगा और कृषि व्यवस्था भी भंग हो जाएगी। फल होगा कि किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं हो सकेगी[१]।

राजा के भाव अथवा कार्य को प्राचीन समय में राज्य कहा गया है[२]। शब्दकोशों में राज्य शब्द के लिए मण्डल, जनपद, देश, प्रदेश, विषय और राष्ट्र जैसे शब्दों का प्रयोग किया है[३]। अन्य और कोशकार राज्य शब्द के लिए राजा का काम, शासन, वह क्षेत्र जिस पर किसी राजा का शासन हो- आदि अर्थ करते हैं[४]।

वैदिक परम्परा में राज्य शब्द का जिस रूप में संकेत है उसका अभिप्राय यह है कि राज्य के मूल में परम्परा और पराक्रम निहित है[५]। अथर्ववेद में यह संकेत किया गया है कि राजा किसी भी राष्ट्र का एकाधिकारी शासक है। इसी संकेत में सभी दिशाओं के कथन से एक विशेष भू प्रदेश का संकेत भी राज्य के लिए है[६]।

इसी प्रकार से एक अन्य कथन में यह संकेत है कि राज्य के लिए ही राजा का निर्वाचन होता है। जिस प्रकार से राज्य का संरक्षण हो, वही राजा का लक्ष्य है[७]।

---

१. प्रा०भा०रा०वि०सं०, पृ० २५० ; कौ०अ०१/४; वा०रा०अयो० ६७/३१
२. का० ६/४/१६८
३. श०क०भाग ४, पृ० १३०
४. बृ०हि०को०, पृ० ११४६; मा०हि०को०, पृ० ४६८
५. वै० को०, पृ० ४४५
६. विशांपतिरेकराट् त्वं वि राजा। सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो.....। अथर्व ३/४/१
७. वही ६/५४/२

आचार्य कौटिल्य ने संकेत रूप में राज्य के निर्माण की सूचना दी है और वह सूचना व्यवहारिक है। उन्होंने लिखा है कि राजा को घने प्रदेशों से अथवा विदेशों से लोगो को बुलाकर उजड़े हुए गांवों में वसाने का प्रयत्न करना चाहिए। गांवों की सीमाएँ निर्धारित होनी चाहिए। तब राजा आठ सौ गांवों के केन्द्र में स्थानीय (नगर जैसा) चार सौ गांवों के केन्द्र में द्रोणमुख, दो सौ गांवों के बीच में भैरवटिक और दस गांवों के केन्द्र में संग्रहण बसाता था। राष्ट्र की सीमा पर दुर्ग बनाए जाते थे। राष्ट्र की वन भूमि की रक्षा का दायित्व वनवासियों का होता था, जिनमें शवर, पुलिन्द और चाण्डालादि आते थे। महर्षि व्यास ने राज्य की कल्पना के मूल में दण्ड को माना है और यह तर्क दिया है कि जब प्रजा में कामादि विकारों के कारण उच्छृङ्खलता आई तो नियन्त्रित करने के लिए राजा और राज्य के निर्माण की आवश्यकता हुई। अन्य प्राचीन आचार्य भी इसी तरह का मत देते हैं[२]।

अन्य भारतीय और विदेशी विद्वानों ने राज्य की कल्पना जिस रूप में की है उसके अनुरूप उनके विविध मत हैं। एक विदेशी विद्वान् गिल क्राइस्ट ने यह अभिमत दिया है कि राज्य वह है जहां पर एक सुनिश्चित भूभाग में निवास करते हुए लोग संगठित होकर राजा के अधीन हों[३]।

इसी प्रकार से गार्नर महोदय और फिलीमोर की राज्य परिकल्पनाएँ भी हैं जिनमें गार्नर कहते हैं कि अधिक अथवा कम संख्या वाले व्यक्तियों के उस समुदाय को राज्य कहते हैं जो किसी निश्चित भूमि भाग पर निवास करता है, जो किसी बाहरी नियंत्रण से स्वतंत्र है और जिसकी ऐसी सरकार है जिसके आदेशों का पालन उसके निवासी स्वाभाविक रूप से करते हैं[४]। फिलीमोर महोदय भी लगभग ऐसा ही भाव व्यक्त करते हैं जिसमें वे यह कहते हैं कि जिसका स्थायी भूभाग हो, सरकार हो और उसका नियंत्रण हो तथा जो अन्तर्राष्ट्रिय सम्बन्ध बनाने में सक्षम हो[५]।

---

१. कौ०अ० २/२६

२. म०भा०शां० पर्व १५/५-६; कौ.अ. १/४; म०स्मृ० ७/२५

३. The State is a concept of political science......where a number of people living on a definite territory..... P.I.S. p.7

४. P.S.G., P. 52

५. A people permanently occupying a fixed territory,.......communities of the glove. I.L., p. 81

एक भारतीय विद्वान् ने यह लिखा है कि प्रारम्भिक अवस्था में अराजकता का वातावरण था। उसी अराजकता को समाप्त करने के लिए राज्य और राजा की परिकल्पना हुई। इसके लिए उन्होंने वैदिक सन्दर्भों का संकेत किया है[१]। वैदिक सन्दर्भों को देकर ही एक और मत दिया गया है जिसके आधार पर यह कहा गया है कि राज्य की उत्पत्ति में देवताओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण होने से यह माना जाना चाहिए कि राज्य की परिकल्पना दैवी परिकल्पना है[२]।

अन्ततः इन सबको मिला करके जो सिद्धान्त राज्य की परिकल्पना के सम्बन्ध में स्थिर किए गए हैं, उनको चार रूपों से कहा गया है। प्रथम सिद्धान्त है दैव उत्पत्ति सिद्धान्त, दूसरा है सामाजिक संविदा का सिद्धान्त, तीसरा है शक्ति का सिद्धान्त और चतुर्थ है पितृ सत्तात्मक सिद्धान्त[३]। इसके अतिरिक्त भी राज्य की स्थापना में सावयवी सिद्धान्त, यज्ञ सिद्धान्त की चर्चा भी भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने की है[४]।

राज्य के अङ्ग

प्राचीन विचारकों में से प्रायः सभी ने राज्य के सात अंगों का वर्णन किया है। महर्षि याज्ञवल्क्य, मनु, कामन्दकादि नीतिकारों ने तथा अनेक पुराणकारों ने राज्य के सात अंगों का कथन किया है। ये सात अंग हैं- स्वामी, अमात्य, जनपद अथवा राष्ट्र, दुर्ग, कोश, दण्ड तथा मित्र[५]। राज्य के इन सात अंगों में स्वामी अर्थात् राज्य श्रेष्ठ अंग माना गया है। यदि राजा सम्पत्तिवान् और शक्तिशाली है तो अपनी प्रकृतियों को समृद्धिशाली बनाता है। प्रकृतियों को वही गौरव प्राप्त है, जो राजा को प्राप्त है। इस लिए राजा सुस्थिर एवं अक्षय शक्ति का केन्द्र है।

---

१. प्रा० भा० ज०, पृ० ४८
२. भा० वि०, पृ० १६
३. रा० शा०, पृ० ५०
४. प्रा० रा० वि० सं०, पृ० २५२-२५४
५. या० स्मृ० १/३५३; मनु० ६/२६४; का० नी० १/१६; मत्स्य० २२५/११

एक आचार्य राज्य के सातों अंगों की तुलना शरीर के अंगों से करते हैं। जैसे कि राजा शिर है, मंत्री आंखें हैं, मित्र कान हैं, कोश मुख है, बल (सेना) मन है, दुर्ग तथा राष्ट्र हाथ तथा पैर हैं। आचार्य कामन्दक ने इन सातों के लिए यह कहा है कि सभी अंग एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि इनमें से एक भी अंग दोषपूर्ण हुआ तो राज्य चल नहीं सकेगा[1]। आचार्य मनु भी इसी दृष्टि का समर्थन करते हैं और यह मत व्यक्त करते हैं कि कोई भी अंग किसी से हीन नहीं है। सभी का महत्त्व एक-दूसरे के बराबर ही है। कोई किसी से बढ़कर नहीं है[2]।

एक आचार्य ने यह लिखा है कि राज्य का निर्माण केवल जन समूह से नहीं होता है अपितु राज्य के लिए जन समूह का भौगोलिक सीमा में रहना आवश्यक है। जन समूह को किसी स्वामी के अनुशासन में चलना होता है। राज्य के लिए एक विशिष्ट शासन होता है और उसके लिए एक सुव्यवस्थित आर्थिक स्थिति होती है और रक्षा के लिए होता है बल तथा अन्ताराष्ट्रिय मैत्री।

आचार्य कौटिल्य राज्य के इन सात अंगों को प्रकृति के नाम से कहते हैं। वे लिखते हैं कि स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र नाम की सात प्रकृतियां राज्य की प्रकृतियाँ हैं[4]। इनमें से वे राजा अर्थात् स्वामी को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि राजा और राज्य को ही प्रकृति का रूप कहते हैं[5]। इस रूप में राज्य की परिकल्पना का प्राचीन आकार सात प्रकृतियाँ हैं जो राज्य के सात अंगों के रूप में कही गई हैं और जिनका महत्त्व कौटिल्य ने भी स्वीकार किया है।

---

१. का० नी० ४/१-२
२. म० स्मृ० ९/२९५
३. ध०शा०इ० (२), पृ० ५८६
४. स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोषदण्डमित्राणि प्रकृतयः। कौ०अ०, पृ० ५३५
५. राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः। वही, पृ० ६८८

राजा की वैधानिक शक्तियाँ

आचार्य मनु ने राजा के अधिकारों के सन्दर्भ में जो लिखा है वह यह है कि राजा को ब्रह्मा नें दण्ड रूप में उत्पन्न किया है। वह जो दण्ड है, वह राजा है,वही नेता है, वही शासक है। चारों वर्णों और आश्रमों का वही शिक्षक है। यदि राजा आलस्य त्यागकर अपराधियों को दण्ड न देवे तो बलवान् प्राणी निर्बलों को उसी तरह से पका देवें जैसे मछली को शूल पर पकाते हैं[२]। याज्ञवल्क्य का भी यही मत है। इनके मत में केवल इतना अन्तर है कि इनकी दृष्टि से ब्रह्मा ने धर्म को ही दण्ड रूप गें सृजित किया था, जिसका प्रयोग करना राजा का कर्तव्य है[२]। इस रूप में इतना स्पष्ट है कि राजा के लिए दण्ड देने की शक्ति और अधिकार केवल उसी के लिए सुरक्षित थे। वह यदि यह देखता था कि कोई अनाचरण कर रहा है तो दण्ड देने की शक्ति रखता था।

बहुत समय तक क्रम से उपनिषद् काल तक तो यही देखने को मिलता है कि राजा का पद वंशानुगत ही प्राप्त होता था। राजा के निर्वाचन के प्रमाण इस समय में लगभग नहीं है। इसलिए उस पर नियन्त्रण करने वाली सभा और समितियाँ थीं तो अवश्य किन्तु वे राजा से ऊपर नहीं थीं[३]।

राजा सम्राट्, एकराट्, महाराज आदि पदों से सम्बोधित था और अपने राज्य का एकछत्र शासक होने के कारण प्रजा के लिए राजा का अनुशासन स्वीकार करना अपरिहार्य था। इसीलिए राजा प्रजा की इच्छाओं की पूर्ति करना अपना कर्तव्य मानता था[४]।

---

१. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
यदि न प्रणयेद राजा दण्डं दण्डेष्वतन्द्रिता।
शूले मत्स्यानिव...............। म० स्मृति ७/१७,२०

२. धर्मोहि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मिता पुरा। या० स्मृ०, पृ० १५६

३. उ०स०सं०, पृ० ४८

४. छा० उ० ८/१/५

उपनिषदों के संकेत यह कहते हैं कि राजा का उसकी भूमि पर पूर्ण स्वामित्व था। वह अपनी इच्छा से किसी भी भूभाग को किसी को भी दान दे सकता था। जानश्रुति नामक एक राजा ने ऐसा किया भी था[१]। राजा को यह भी अधिकार था कि वह अपनी सहायता के लिए सूत, ग्रामणी, प्रत्येनस तथा दूतादि की नियुक्ति करे[२]।

एक विद्वान् 'राजतन्त्र' शब्द का शाब्दिक अर्थ देकर यह प्रतिपादित करते हैं कि राजतन्त्र से अर्थ है राजा का तन्त्र और तन्त्र का अर्थ है शासन[३]। इसलिए राजतन्त्र का पूरा अर्थ हुआ राजा का शासन। इस रूप में अर्थ करते हुए यह कहा गया है कि राजतन्त्र एक ऐसी शासन पद्धति का द्योतक है, जिसमें प्रशासन की पूरी वागडोर राजा के हाथ में होती है। वह अपने राज्य का सर्वेसर्वा होता है और अपनी इच्छा से राज्य का शासन चलाता है[५]।

महाभारत के सन्दर्भ राजा के अधिकारों का एक और पक्ष प्रस्तुत करते हैं जिसमें वे यह संकेत करते हैं कि राजा राष्ट्र के औद्योगिक अभ्युदय का प्रधान होता था। कृषि कार्य को बढ़ावा देने के लिए वह कृषकों की सहायता करता था तथा व्यापार के संयोजन के लिए अनेक योजनाओं को कार्यान्वित करता था[६]।

आचार्य कौटिल्य भी अनेक विद्याओं के विषय में विचार करते समय दण्ड नीति को पर्याप्त महत्त्व देकर राजा के अधिकार में यह उल्लेख करते हैं कि राजा की दण्ड व्यवस्था से रक्षित चारों वर्ण-आश्रम, सम्पूर्ण लोक अपने-अपने धर्म कार्यों में प्रवृत्त होकर निरन्तर अपनी-अपनी मर्यादा में बने रहते हैं[७]।

---

१. छा० उ० ४/२/४
२. उ०स०सं०, पृ० ४३
३. सं०हि०को०, पृ० ४२०
४. सं०इ०डि०, पृ० ४३६
५. सं०सा०रा०, पृ० ३८
६. म०भा०सभापर्व ५/६८,६६; शान्ति० ६६/३५,३८
७. कौ०अ० १/३/१

आचार्य कौटिल्य यद्यपि राज प्रणाली के समर्थक हैं और वे अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में राजा को केन्द्र में रखकर ही सभी प्रकार के विधि-विधान लिखते हैं तथापि वे मन्त्रियों को पर्याप्त महत्त्व देते हुए यह संकेत करते हैं कि राजा समय पर अपने मंत्रियों से विचार-विमर्श करे, जो राज्य कार्य प्रारम्भ न हुए हों, उन्हें प्रारम्भ करावे, प्रारम्भ किए गए कार्यों को पूरा कराने और जो कार्य पूर्ण हो चुके हों, उनमें आवश्यक संशोधनादि करे। जो मंत्री राजा के अति निकट होवें, राजा उनको साथ लेकर अनेक कार्यों का स्वयम् निरीक्षण करे[१]। यह अधिकार मन्त्रियों को देते हुए भी कौटिल्य ऐसे मन्त्रियों की नियुक्ति का अधिकार राजा को ही देते हैं।

आचार्य कौटिल्य ने राजा में इस शक्ति का आधान माना है जिसमें वे यह कहते हैं कि महाराज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, वातव्याधि आदि आचार्य जो कहते हैं, वह अपने-अपने स्थान पर सभी ठीक हैं किन्तु किसी भी पुरुष की सफलता उसके सामर्थ्य पर निर्भर करती है। इसलिए राजा अमात्यों की नियुक्ति करे किन्तु वह सभी का सामर्थ्य देख लेवे। राजा अपने सहपाठी आदि की उपेक्षा न करे किन्तु अति निकटता होने के कारण वह उन्हें अपना मन्त्री आकस्मिक रूप से न बनावे[२]। अमात्यों और मन्त्रियों की नियुक्ति का अधिकार राजा का है।

---

१. ते ह्यस्य स्वपक्षं परपक्षं च चिन्तयेयुः। अकृतारम्भमारब्धानुष्ठानमनुष्ठितविशेषं नियोगसम्पदं च कर्मणां कुर्युः। आसन्नैः सह कार्याणि पश्येत्। कौ०अ०, पृ० ५७

२. विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मन्त्रिणः।। वही, पृ० २७

पुरोहित तथा अमात्य

वैदिक तथा वेदोत्तर परम्परा ऐसे अनेक संकेत करती है जिसमें हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि तब की राजनैतिक और सामजिक व्यवस्था पर्याप्त रूप से सुदृढ़ थी। जैसे कि एक विद्वान् ने अनेकों सन्दर्भ देकर यह सिद्ध किया है कि वेदों में जिन देवताओं के नाम लिए गए हैं, वे सभी किसी न किसी विशेष कार्य के लिए उत्तरदायी देवता थे। जैसे कि रुद्र प्रहरी, वसु धनिक, आदित्य प्रकाशक, वरुण प्रधान शासक, अग्नि वक्ता अथवा पुरोहित, त्वष्टा शिल्पी आदि[१]।

इसी प्रकार से वेद साहित्य में जो रत्नि मण्डल का उल्लेख मिलता है उसका संकेत राज परिवार के जनो से राज कर्मचारी तथा अधिकारियों से माना जाता है[२]। वैदिक ग्रन्थों में तथा अन्य ग्रन्थों में रत्निमण्डल की सूची भी ब्रह्मा (पुरोहितः) राजन्य (राजकुल में उत्पन्न जन) महिषी (राजपत्नी), सेनानी, संग्रहीतक, सूत आदि के रूप में है[३]।

मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति में याज्ञवल्क्य और मनु आदि ने अपने-अपने मत दिए हैं और इनमें से प्रमुख व्यक्ति के रूप में मनु ने किसी एक के हाथ कार्य सौंप देने की बात लिखी है। मनु कहते हैं कि राजा अपनी आवश्यकतानुसार मन्त्री नियुक्त करे किन्तु उनमें जो धार्मिक ब्राह्मण हो, उसकी सम्मति से कार्य करे[४]।

---

१. अ०रा०,पृ०७०
२. प्रा०भा०शा०, पृ० ११०
३. वै०को०, पृ० ४३४; तै०सं० १/८/९/१; श०ब्रा० ५/३/१/१;
मै०सं० २/६/५; हि०स०, पृ० ११६
४. सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणे विपश्चिता।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण संयुतम्।। म०स्मृ० ७/५८

याज्ञवल्क्य भी इसी प्रकार का कथन करते हैं और यह लिखते हैं कि दैवज्ञ, सभी शास्त्रों के ज्ञाता, दण्डनीति में कुशल तथा अथर्व आदि में कुशल ब्राह्मण को राजा पुरोहित बनावे[१]।

आचार्य कौटिल्य ने अमात्य और मन्त्री में भेद किया है। वे जिस अमात्य की चर्चा करते हैं, उसका पहले संकेत वैदिक साहित्य में है। पुरोहित शब्द का संकेत भी वहां पर है और इसे भी राजा के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर अग्नि की प्रार्थना करते हुए यह संकेत है कि वह मन्त्रियों (अमात्यों) के साथ हाथी पर बैठे हुए राजा की भांति जाए[२]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में अमात्य शब्द मन्त्री के अर्थ में ही प्रयुक्त है। पुरोहित शब्द का अर्थ पुरोधा अर्थात् आगे स्थापित होता है। वह शिक्षक, पथ प्रदर्शक और राजा के मित्र के रूप में होता था। वह राजा के साथ जाता था और युद्ध में उसका साथ देता था[४]।

कौटिल्य यह मानते हैं कि राजा को कोई कार्य मन्त्रणा करके ही करना चाहिए। इसलिए मन्त्री, अमात्य और पुरोहित की आवश्यकता राजा को होती है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अमात्य की नियुक्ति के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है और वहां पर अनेक आचार्यों के मत दिए गए हैं। किन्तु उन सबके मतों का समन्वय करने के बाद आचार्य ने यह मत दिया है कि किसी भी पुरुष के सामर्थ्य की स्थिति उसके कार्यों की

---

१. या०स्मृ० १/३१३
२. ऋक् ७/१५/३
३. आ०ध०सू० २/१०/२५/१०
४. ऋक् १/१/१; ७/६०/१२; ७/१८/१३

सफलता पर निर्भर हैं। राजा अपने सहपाठियों की अवहेलना न करे। अर्थात् वह प्रत्येक समय उनकी उपेक्षा ही न करता रहे। जो कभी उसके साथ अध्ययन करते रहे हों और राजा के सहपाठी होवें, उनमें से जो योग्य हो, जो विद्या, बुद्धि, साहस आदि में श्रेष्ठ प्रतीत होवें उन्हें अमात्य पद पर नियुक्त करे; किन्तु ऐसे सहपाठियों को मन्त्री न बनावे[१]।

यहां पर यह एक विचारणीय प्रश्न अवश्य उपस्थित हो जाता है कि अमात्य और मन्त्री में वरिष्ठ कौन है और कौन राजा के समीप अधिक विश्वसनीय है। आचार्य के अनुसार तो यह प्रतीत होता है कि मन्त्री वरिष्ठ और महत्त्वपूर्ण है तथा अमात्य उसकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है।

इसी के साथ मन्त्रियों की योग्यताओं की परीक्षा की कसौटी की चर्चा करके आचार्य कौटिल्य ने पुरोहित के सम्बन्ध में जो कहा है उससे प्रतीत होता है कि वह अमात्य और मन्त्री दोनों से अधिक वरिष्ठ और राजा का विश्वासपात्र है। आचार्य लिखते हैं कि जो उच्चकुलोत्पन्न हो, वेद, ज्योतिष, शकुनशास्त्र का ज्ञाता हो, दैवी तथा मानुषी विपत्तियों का प्रतिकार करने वाला हो, उसे राजा अमात्य नियुक्त करे। पुरोहित को सदा राजा का अनुगामी होना चाहिए। इस प्रकार जो राजा ब्राह्मण पुरोहित से संवर्धित, योग्य मन्त्रियों से अभिरक्षित होता है, वह अजेय होता है[२]।

---

१. विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मन्त्रिणः।। कौ०अ०, पृ० २७

२. ब्राह्मणे नैधितं क्षत्रं मन्त्रमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगतशस्त्रितम्।। वही, पृ० ३०

राजा और राजपुत्र

प्राचीन सन्दर्भ ग्रन्थों में राजाओं के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में उनके पुत्रों के विषय में विचार किया गया है और अनेक प्रकार के मत दिए गए हैं। वाल्मीकि रामायण में राज पुत्रों के लिए यह व्यवस्था थी कि उनमें से जो ज्येष्ठ होता था, उसे राजा के कार्यकाल में ही युवराज घोषित कर दिया जाता था[1]। जैसे कि दशरथ के रहते हुए ही श्रीराम को युवराज बना दिया गया था। युवराज के सन्दर्भ में आचार्य शुक्र का यह अभिमत है कि युवराज और अमात्य राजा के दो बाहु या आंखें हैं[3]। किन्तु साथ ही शुक्राचार्य ने यह अवश्य लिखा है कि राजा मृत्यु के समय को छोड़कर कभी भी युवराज को सम्पूर्ण राज्य शक्ति न देवे[4]। कामन्हक अवश्य यह लिखते हैं कि राजकुमार यदि अविनीत होवे तो उसे त्यागना नहीं चाहिए क्योंकि ऐसी स्थिति में वह शत्रु से मिल जाएगा। उसके अविनीत होने की दशा में उसे एक सुरक्षित स्थान में बन्दी बनाकर रखना चाहिए[5]। एक पुराणकार यह संकेत करते हैं कि राजकुमारों को धर्मशास्त्र, कामशास्त्र और अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि का ज्ञान दिया जाना चाहिए। यदि वे पढ़-लिख न सकें तो उन्हें आमोद-प्रमोद में लिप्त कर देना चाहिए जिससे वे राजा के शत्रुओं से मिल न सकें[6]।

आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजपुत्र पर पर्याप्त विचार दिए हैं और इनके विचार न केवल राजकीय दृष्टि से मान्य हो सकते हैं अपितु मानवीय दृष्टि से भी इन्हें महत्त्व दिया जा सकता है।

---

१. वा०रा० अयो ३-६
२. शु० नी० २/१४-१६
३. वही २/१२
४. वही ५/१७
५. का०नी०७/६
६. अ०पु० २२५/१-४

कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्ती जिन विचारकों के विचार दिए हैं, उनमें यह कहा गया है कि राजा को अपने पुत्रों से अपनी रक्षा करनी चाहिए, अन्यथा जिस प्रकार केकड़े अपने ही पिता को खा जाते हैं, उसी प्रकार राजा के पुत्र राजा को खा जायेंगे[१]। इसी दृष्टि से एक आचार्य यह लिखते हैं कि राजकुमारों में यदि पितृ भक्ति न दिखाई दे तो उनका चुपचाप वध कर डालना ही श्रेयस्कर होता है[२]। इस कर्म को जघन्य और पाप कर्म की संज्ञा एक अन्य आचार्य ने दी है और अपना मत व्यक्त किया है कि यह कहना महत् पाप होगा। इससे क्षत्रिय वंश के निर्मूल होने की ही शंका हो जाएगी। वे इसका समाधान करते हुए यह मन्तव्य प्रकट करते हैं कि राजकुमारों में यदि पितृ भक्ति न दिखाई दे तो उन्हें कैद करके एक स्थान में रखा जाना चाहिए[३]। आचार्य का यह विचार कामन्दकीय नीति का विचार प्रतीत होता है।

आचार्य कौटिल्य ने अन्य और मत भी राज पुत्रों के संबंध में उद्धृत किए हैं। इनमें दो आचार्य इस मत के हैं कि राजकुमारों को कैद कर बाहर अथवा किसी दूसरे राजा के राज्य में रखना चाहिए। इसका प्रतिवाद करते हुए यह कहा गया कि ऐसा करना खतरनाक है क्योकि तब राजपुत्र का उपयोग दूसरा कर सकता है[४]।

---

१. पुत्ररक्षणं जन्मप्रभृति राजपुत्रान् रक्षेत्। कर्कटकसधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्राः। कौ०अ०, पृ०६४

२. तेषामजातस्नेहे पितर्युपांशुदण्डः श्रेयानिति भरद्वाजः। वही, पृ० ६४

३. कौ०अ०, पृ० ६४

४. वही, पृ० ६५

एक और आचार्य का मत यह है कि जो राजपुत्र पिता के अनुकूल न होवे, उसे अनेक प्रकार के विषय-भोगों में फँसा देना चाहिए। इस रूप में विषय-भोगों में अनुरक्त रहने से और इससे क्षीण होने से वे पितृद्रोह का अवकाश ही नहीं पा सकेंगे। अन्य और भी मत इसी प्रकार के हैं, जिनमें राजपुत्रों को राजा के विरुद्ध जाने के प्रयास से बचाव करने के सुझाव दिए गए हैं किन्तु आचार्य कौटिल्य इन सबका निषेध करते हैं और थोड़ी बहुत अपनी सम्मति देते हुए भी अन्त में मानवीय दृष्टि से और राज्य की समृद्धि की दृष्टि से जो मत देते हैं उसके अनुसार वे कहते हैं कि अनेक पुत्रों में से एक दुर्बुद्धि हो तो उसे विदेश भेजकर रोके रखना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह सदा ही अपने पुत्रों की कल्याण कामना करे और यदि सभी प्रिय हों तो जो ज्येष्ठ हो, उसे राजा बनावे[१]।

कौटिल्य का यह भी मत है, जो एक विशिष्ट मत इसलिए है कि यह सभी के सौहार्द का हेतु है और सामुदायिक राज्य की कल्पना का प्रयोग जैसा है जिसमें वे लिखते हैं कि राजा के सभी राजपुत्रों का यदि परस्पर सौहार्द हो तो वे सभी मिलकर राज्य सम्हालें। यदि सभी एक साथ मिलकर राज्य कार्य करेंगे और परस्पर सहमत रहेगें, तो निश्चित रूप से ऐसा राज्य बलशाली और अजेय होगा। कभी यदि एक राजकुमार अशक्त हुआ तो दूसरा राजकुमार उस रिक्ति की पूर्ति कर सकेगा[२]।

---

१. बहूनामेकसंरोधः पिता पुत्रहितो भवेत्।
अन्यत्रापद ऐश्वर्यं ज्येष्ठभागि तु पूज्यते।। कौ० अ०, पृ० ६९

२. कुलस्य वा भवेद् राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः।
अराजव्यसनाबाधः शश्वदावसति क्षितिम्।। वही, पृ० ७०

मन्त्रिपरिषद्

प्राचीन सन्दर्भों में यह संकेत है कि वेद रचना के समय में राजा की सहायता के लिए अथवा उस पर नियंत्रण के लिए दो प्रकार की संस्थाएँ थीं- एक सभा और दूसरी समिति[१]। इनसे जहां एक ओर जनता के हित की बातों का सम्बन्ध होता था, वहीं दूसरी ओर इनके माध्यम से राजा के चुनाव की इच्छा जनता के द्वारा प्रकट की जाती थी। ऋग्वेद में कई स्थानों पर सभा का उल्लेख है किन्तु उनका स्वरूप कैसा था, इस पर बहुत स्पष्टता के साथ कुछ नहीं जा सकता है। सभा में जो श्रेष्ठ व्यक्ति होता था, वह सभासद् कहा जाता था और सभा के योग्य व्यक्ति को सभेय कहा जाता था[२]।

इसी प्रकार से समिति शब्द भी वहां पर उल्लिखित है किन्तु यह भी विविध प्रकार के अर्थ देता है। एक स्थान पर यह संकेत है कि राजा समिति में जाता है और वहां अन्य सदस्यों के चित्त को अपने अनुकूल करता है। एक सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें राजा और समिति के मन, चित्त और हृदय के समान होने का संकेत है[३]।

उपनिषद् काल में इन सभाओं और समितियों का बहुत अधिक प्रभाव नहीं दिखाई देता और ऐसा लगता है कि इनकी क्षीणता इस काल में हो चुकी थी[४]।

मन्त्रियों की आवश्यकता के लिए नीतिकारों ने यह लिखा हैं कि केवल एक पहिया कार्यशील नहीं होता है इसलिए राजकार्य सहायकों की मदद से ही सम्भव है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह राज कार्य के सम्पादन के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति करे[५]।

---

१. ऋक् ६/२८/६; ८/४/९; १०/३४/६
२. वही १०/७१/१०; २/२४/१३
३. वही १०/१६६/४; १०/१९१/३-४
४. उ०स०सं०, पृ० ४२-४३
५. मनु० स्मृ० ७/५५; शु० नी० २/१

राजा के लिए तब सम्भवत: अमात्य और मन्त्री दोनों ही आवश्यक होते थे और इन दोनों में किसी न किसी रूप में अन्तर भी था। वाल्मीकि रामायण में सुमन्त्र को अमात्य और सर्वश्रेष्ठ मन्त्री कहा गया है तथा इसी में आगे अमात्य तथा मन्त्री में अन्तर बताया गया है[१]। आचार्य कौटिल्य भी मन्त्री और अमात्य में अन्तर करते हैं।

कौटिल्य भी राजा के लिए मन्त्रियों की अनिवार्यता को यही कहकर संकेतित करते हैं कि सभी कार्य मन्त्रणा पूर्वक ही होते हैं- मन्त्रपूर्वा समारम्भा:। अर्थात् किसी भी कार्य का आरम्भ राजा तभी करे जब वह विधिपूर्वक मन्त्रणा कर लेवे। विना मन्त्रणा के कार्य प्रारम्भ नहीं करना चाहिए। मंत्रियों की यही उपयोगिता है कि वे राजा के अनेक कार्यों में सहयोग करें; क्योंकि कार्य अनेक होते हैं और भिन्न स्थानों में होते हैं जिन्हें राजा अकेले नहीं कर सकता, इसलिए वह उन कार्यों को पूरा करने के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति कर देता है[२]।

कौटिल्य यद्यपि राजतन्त्र के समर्थक हैं तथापि वे मन्त्रियों की महत्ता को स्वीकार करते हुए यह लिखते हैं कि राजा को अपने महत्त्वपूर्ण कार्य मन्त्रिपरिषद् की सहायता से ही नहीं करने अपितु उनके परामर्श से करने हैं। जो कार्य विवाद ग्रस्त हों, उनमें राजा को चाहिए कि वह मन्त्रियों के द्वारा बहुमत से किए निर्णय को स्वीकार करके कार्य करे। मन्त्री राजा के नेत्र कहे जाते हैं[३]।

मन्त्रियों की योग्यता वही थी, जो अमात्यों की योग्यता कही गई है किन्तु मन्त्री बनाने के लिए साधारण रूप से राजा को मना किया गया है और कहा गया है कि राजा जिसे अमात्य बनावे उसे

---

१. वा०रा० १/७/३; १/८/४; १/२/१७
२. कौ०अ०,पृ०५८
३. वही, पृ० ५७,५८

सहसा मन्त्री न बना देवे। उसके कुल, शील, आचार, और विचार का भली प्रकार ज्ञान कर ले और उसकी योग्यता की परख करके ही उसे मन्त्री बनावे[१]।

मन्त्रियों की संख्या को लेकर ही अनेक प्रकार के विचार आए हैं। कौटिल्य ने ही जिनके मत दिए हैं, उनमें से किसी का यह मत है कि तेरह मन्त्री होवें, किसी का बारह अथवा बीस मन्त्री बनाने का निर्देश है। आचार्य कौटिल्य और कामन्दक का यह कथन है कि संख्या का निर्धारण यथा सामर्थ्य होना चाहिए। अर्थात् जितनी आवश्यकता और राजा की सामर्थ्य हो, उतने मंत्री नियुक्त किए जाने चाहिए[२]। मनु ने मन्त्रियों की योग्यता के साथ-साथ सात अथवा आठ मन्त्री नियुक्त करने का संकेत किया है। महाभारत में यह संख्या सैंतीस तक बताई गई है किन्तु कहीं आठ और कहीं तीन से कम मन्त्रियों से मन्त्रणा न करने की बात कही गई है[३]। वाल्मीकि में तीन अथवा चार मन्त्रियों से परामर्श करने की बात है[४]। जहां तक सम्मति लेने की बात है तो कौटिल्य भी तीन अथवा चार मन्त्रियों से सम्मति लेने की बात लिखते है[५]।

मन्त्रियों को अत्यधिक बुद्धिमान होना होता है-ऐसा कहना आचार्य कौटिल्य का है। मन्त्रियों को अधिकार होता था कि वे अज्ञात विषय को ज्ञात करें, ज्ञात विषय का निश्चय करें, निश्चित विषय को स्थायी रूप दें और मतभेद होने पर संशय का निराकरण करें[६]।

इस रूप में राजा के लिए मन्त्रियों का होना आवश्यक था, और इसी से राजा का राज्य ठीक से चल सकता था।

---

१. मनु० स्मृ० ७/५४
२. यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः। कौ० अ०, पृ० ५७
३. म०भा० शां० ८५/७-६;८३/४७
४. वा०रा० २/१००/७१
५. कौ०अ०, पृ० ५८
६. वही, पृ० ५४

राज्य का प्राचीन स्वरूप

(क) जनपद

वेद कालीन समाज का, जिसे आर्य-क्षेत्र भी कह सकते हैं बहुत ही विस्तृत भूभाग में बसा हुआ था। यदि उस समय की भौगोलिक सीमाएँ जानना है तो कुछ नाम प्राप्त होते हैं, उन्हीं के आधार पर जाना जा सकता है। उस समय का जो राजनैतिक गठन हुआ था, उसके अनुसार गृह अथवा कुल मूल में था। इसके बाद विश्, जन और राष्ट्र की संरचना हुई थी[१]। विश् से बड़ा जन कहा गया था जिसमें पंच जना: कथन है और यह भी कथन है कि राजा जन का गोप्ता होता है[२]। किन्तु यह उल्लेख जनों के समूह के लिए किया गया प्रतीत होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में जनपद शब्द का उल्लेख अधिक स्पष्टता के साथ किया गया है[३]। एक स्थान पर हिमवान् के पर क्षेत्र में जनपद का संकेत है[४]। जनपद शब्द का जो अर्थ वहां पर लिया गया है, उसका अभिप्राय जनों की वस्ती से है[५]। एक स्थान पर तो यह शब्द सम्पूर्ण देश का ही द्योतक प्रतीत होता है[६]।

उपनिषदों के सन्दर्भ से जो ज्ञात किया जा सकता है, उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि उस समय जो शक्तिशाली जातियाँ होती थीं वे ग्रामों का अन्तर्भाव करके जनपदों का गठन कर लेती थीं। एक स्थान पर ग्राम के समुदाय का नाम जनपद कहा भी गया है[७]। एक विद्वान् यह कहते हैं कि जातीय आधार पर ही जनपदों का गठन होता था और जिस जाति का जो जनपद होता था, उसका वहाँ पर प्रभुत्व होता था। और यह ऐसा ही है जैसे यूनान में पुर अथवा कबीलों से जनपदों का विकास हुआ[८]।

---

१. हि०स०, पृ० ६६
२. ऋक् १०/८४/२; ३/४३/१२
३. श०ब्रा० १३/४/२/१
४. ऐ०आ० ८/१४/५
५. बृ०उ० २/१/२०
६. तै० ब्रा० २/३/९/९
७. का० ४/२/१
८. या०का०भा०,पृ० ४६

आचार्य कौटिल्य यह मत व्यक्त करते हैं कि राजा को शासन व्यवस्था की दृष्टि से सम्पूर्ण राष्ट्र को दो भागों में विभक्त कर देना चाहिए। इसका एक भाग हो पुर और दूसरा जनपद। पुर से उनका अभिप्राय नगर, दुर्ग और राजधानी से है तथा शेष राष्ट्र का अभिप्राय जनपद से है। राज्य की जो सात प्रकृतियाँ कही गई हैं, उनके वर्णन में पुर और जनपद को इसीलिए पृथक्-पृथक् कहा गया है।

कौटिल्य ने जनपद के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण विस्तार से दिया है। इसके गठन के विषय में वे लिखते हैं कि सबसे छोटी बस्ती ग्राम होती है। दस ग्रामों के संगठन का नाम संग्रहण है जहां राजा का राजकीय कार्यालय होना चाहिए[१]। इसी प्रकार से दस-दस ग्रामों के क्रम से दो सौ ग्रामों का संगठन करके एक क्षेत्र का निर्माण करना कौटिल्य को अपेक्षित है[२]। फिर चार सौ ग्राम और उसके शासन की व्यवस्था के लिए द्रोणमुख की स्थापना और फिर आठ सौ ग्रामों के संगठन से राजकीय कार्यालय की स्थापना का संकेत है। कौटिल्य लिखते हैं कि इस प्रकार से जनपद के सीमान्त पर अन्तपालों की संरक्षा में दुर्गों का निर्माण करना चाहिए, जिससे शत्रुओं का भय न रहे। कौटिल्य का यह भी अभिमत है कि जनपद की कुछ अंतराल रहित सीमाओं पर व्याध, शबर, पुलिन्द, चाण्डाल और अन्य वनचर जातियों को बसाकर वहाँ की सुरक्षा व्यवस्था मजबूत कर देनी चाहिए[३]।

---

१. कौ०अ०,पृ० ६३

२. वही, पृ० ६१

३. अन्तेष्वन्तपाल दुर्गाणि जनपदद्वाराण्यन्तपालाधिष्ठतानि स्थापयेत्।
तेषामन्तराणि बागुरिकशबरपुलिन्दचण्डालाख्यचरा रक्षेयुः।। वही, पृ० ६४

महाभारत में भी इसी तरह का वर्णन है और वहां पर यह कहा गया है कि एक गाँव, दस गाँव, बीस गाँव, सौ गाँव का नायक होता है जो अपने कार्य क्षेत्र की घटनाओं का विवरण अधिपति को देता है और प्रजा से धन संग्रह करने का अधिकारी होता है[१]। इसमें ग्रामिक की कल्पना उसी भाँति से है जैसे कौटिल्य ने ग्रामिक की परिभाषा की है[२]।

कौटिल्य ने जनपद के बसाने के विषय में भी विस्तार से अपना अभिमत व्यक्त किया है। उन्होंने लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह अपना जनपद वहां पर बसावे जहां पर कम श्रम करने से अधिक अन्न की प्राप्ति की जा सके। अर्थात् ऐसी भूमि में जनपदों की स्थापना नहीं की जानी चाहिए जहां की भूमि ऐसी हो कि अन्न प्राप्ति के लिए श्रमिकों और कृषकों को अधिक श्रम करना पड़े। साथ ही वे लिखते हैं कि खनिज की भरपूर प्राप्ति हो सके इसके लिए भी सावधानी रखनी चाहिए और जनपदों के लिए ऐसा क्षेत्र चुना जाना चाहिए जहाँ पर पर्याप्त रूप से खजिन सम्पदा देने वाली खान होवें।

कौटिल्य प्रजा के स्वास्थ्य पर भी ध्यान देते हैं और जनपद निर्माण में वे ऐसा स्थान चुनने का संकेत करते हैं जो स्वास्थ्य वर्धक हो। प्रजा सम्पन्न होवे और राजा के द्वारा लगाए गए कर को भली भाँति चुका सके। ऐसा स्थान और जनपद ही कौटिल्य की दृष्टि से उत्तम जनपद है[३]।

---

१. म०भा०शां० ८७/५५
२. क०जी०द०, पृ० १०६
३. कौ०अ०, पृ० ६४-६६

नगर

प्राचीन भारतीय साहित्य में नगरी शब्द का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है। एक स्थान पर जानश्रुति के वंश का उल्लेख करते हुए नगरी को उनका स्थान कहा गया है[१]। ऐसा ही एक अन्य उल्लेख भी नगरी शब्द को लेकर किया गया है[२]। इसी प्रकार से अनेक स्थानों पर ग्राम और नगर का भेद निरूपित किया गया है[३]। काशी, अयोध्या आदि नगरों का उल्लेख तो है ही इनके शासकों की चर्चा भी वहां पर की गई है[४]।

आचार्य कौटिल्य ने नगर की पर्याप्त चर्चा की है और लिखा है कि जिस स्थान को नगर-निर्माण के लिए चुना जाए उसमें पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले तीन-तीन राजमार्ग होवें। उस नगर में चौबीस फीट चौड़ी गलियाँ और सोलह गज की चौड़ी सड़कें होनी चाहिए[५]।

आचार्य कौटिल्य ने दुर्ग निर्माण के अध्याय में विस्तार से यह भी लिखा है कि नगर के सुदृढ़ भूमि भाग में राजभवनों का निर्माण कराना चाहिए और इसी के साथ यह ध्यान रखना चाहिए कि वह ऐसी भूमि हो जिसमें सभी की जीविका चल सके। आचार्य कौटिल्य ने नगर की स्थापना में सभी के लिए यथोचित स्थान देने का निर्देश किया है। इसमें अन्न, तेल, घी आदि की दुकानों के साथ-साथ शराब, मांस की दुकानों के स्थान देने के भी संकेत किए गए हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने लिखा है कि नट और वेश्या जैसे कर्मियों को भी नगरों में यथा स्थान निवास देना चाहिए[६]।

---

१. ऐ० ब्रा० ५/२५; १/३०
२. जै०उ०ब्रा० ३/१०/२
३. तै०आ० १/१/११
४. जा०भा०सं०, पृ० ५०-५४
५. कौ०अ०, पृ० ११०
६. वही, पृ० १११

राष्ट्र

यद्यपि राज्य, राष्ट्र और राष्ट्रियता शब्दों का प्रयोग पृथक्-पृथक् किया गया है किन्तु प्राचीन समय से ही यह अनुभव किया गया है कि इनमें परस्पर इतना अधिक सम्मिश्रण है जिससे इनको पृथक्-पृथक् कह पाना काफी कठिनता का काम है। फिर, प्राचीन समय से ही इनको अलग-अलग समझने का प्रयत्न किया गया है और अपने-अपने विचार से इनको पृथक्-पृथक् देखा भी गया है। जब हम राष्ट्र शब्द के प्रचलन के सन्दर्भ में विचार करते हैं और इसके प्रयोग को देखते हैं तो यह दिखाई देता है कि राष्ट्र की स्थापना में ऋषियों की तपश्चर्या ने प्रमुख भूमिका अदा की थी। इसलिए राष्ट्र अनायास नहीं प्राप्त हुआ अपितु यह मानवीय श्रम का ही परिणाम है[१]। अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थान पर राष्ट्र शब्द का प्रयोग क्षत्र शब्द के साथ किया गया है जिससे राष्ट्र अर्थात् शासन की समभागिता प्रतीत होती है[२]। इसी प्रकार से एक उदाहरण में राष्ट्र के साथ भूमि, तेज, बल की धारणा को चाहा गया है और यह चाहा गया है कि हमारा राष्ट्र भूमि, तेज और उत्तम बल को धारण करे[३]। कहीं पर प्राचीन सन्दर्भों में श्री को राष्ट्र[४] क्षत्र को राष्ट्र,[५] मुष्टि को राष्ट्र,[६] विश को राष्ट्र,[७] सविता को राष्ट्र[८] कहा गया है।

इस रूप में प्राचीन विचारधारा के अनुसार एक विचारक का यह कथन है कि राष्ट्र राज्य की अपेक्षा बड़ा होता है। राष्ट्र में संघ की भावना का दर्शन होता है और इसमें संस्कृति, भाषा, जाति, सम्पन्नता आदि समाहित होती हैं।

---

१. अथर्व १३/१/३५
२. वही १०/३/१२
३. वही १२/१/८
४. शब्रा० ६/७/३/७
५. ऐब्रा० ७/२२/८
६. शब्रा० १३/२/६/८
७. ऐब्रा० ८/२६
८. शब्रा० ११/४/३/१४

संस्कृत के एक प्रसिद्ध कोशग्रन्थ में राष्ट्र शब्द के पर्याय के रूप में जनपद शब्द का प्रयोग किया गया है। वहाँ पर एक अन्य उदाहरण देकर इसका समर्थन भी किया गया है। इसके लिए यह कहा गया है कि प्राचीन समय में गौड़ों का राज्य उत्तम था- 'गौड़ राष्ट्रमनुत्ततम्'। एक अंग्रेजी शब्द कोशकार ने राष्ट्र शब्द के पर्याय में **Kingdom, Empire, District** आदि को भी लिखा है[२]। एक हिन्दी शब्दकोश में राष्ट्र शब्द के लिए देश, राज्य और जाति शब्दों का प्रयोग किया गया है[३]। एक और हिन्दी कोश में राष्ट्र शब्द के लिए राज्य, देश किसी निश्चित और विशिष्ट क्षेत्र में रहने वाले लोग जिनकी एक भाषा, एक से रीति रिवाज तथा एक सी विचारधारा होती है, का प्रयोग किया गया है[४]। जहां तक देश और राष्ट्र की समानार्थकता का प्रश्न है तो ऐसे संकेत पुराने समय में भी मिलते रहे हैं जहां देश और राष्ट्र को समानार्थक माना गया है[५]।

संस्कृत के एक अन्य ग्रन्थ अमरकोश में देश, राष्ट्र विषय एवम् जनपद पर्यायवाची शब्द के रूप में लिखे गए हैं। कहीं-कहीं विषय देश का उप विभाग माना गया है[६]। किन्तु एक उद्धरण में विषय का प्रयोग पहले किया गया है और राष्ट्र का प्रयोग बाद में किया गया है[७] जिससे यह अनुमान होता है कि विषय राष्ट्र से बड़ा है।

आचार्य कौटिल्य ने राष्ट्र और नगर के रूप में दो विभाजन ही किए हैं। नगर की संरचना की जो स्थिति थी उसके अनुसार ग्रामों के

---

१. वाच० (६), पृ० ४८०७
२. सं०इ०डि०, पृ० ४६६
३. बृ० हि०को०, पृ० ११५२
४. मा० हि० को०, पृ० ५०५
५. जा० भा० सं०, पृ० ५०; कौ०यु०द०, पृ० ७३
६. इ० एण्टी (८), पृ० २०
७. ए० इ० (१) पृ० ५

समूह को नगर माना गया है किन्तु राष्ट्र इससे बड़ा है और यह सम्भवतः किसी राजा के राज्य का द्योतक है। आचार्य कौटिल्य एक स्थान पर यह लिखते हैं कि राजा को चाहिए कि वह नगर में ऐसे लोगों को न बसने दे जिनके कारण राष्ट्र तथा नगर का नैतिक, धार्मिक एवं राष्ट्रिय स्तर गिरता हो। यदि इनको बसाना ही है तो इनको सीमा प्रान्त में बसाया जाए और उनसे राज्य कर बसूल किया जाए[१]।

आधुनिक राजनीतिक विचारकों ने भी राष्ट्र के विषय में विचार किया है और इसे नेशन शब्द के रूप में कहा है। इसमें भाषा विज्ञान के विद्वानों ने यह कहा है कि नेशन शब्द लेटिन भाषा के नेटस **(Natus)** शब्द से विकसित हुआ है। इसका अर्थ जाति, जन्म और प्रजाति से सम्बन्धित होता है[२]। एक विद्वान् यह कहते हैं कि राष्ट्र जन समूह में विद्यमान एकता की उस विशेष भावना का नाम है जो इस समुदाय को साथ रहने और किसी भी बाहरी नियन्त्रण का प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करती है[३]। एक मत यह है कि राष्ट्र के समन्वित स्वरूप में भाषा, धर्म, संस्कृति, इतिहास, साहित्य आदि की एकता होती है[४]।

इस रूप में राष्ट्र एक व्यापक स्वरूप की ओर संकेत करता है और इसका विकास शनैः शनैः समयानुरूप होता रहा है।

---

१. न च वाहिरिकान्कुर्यात्पुरराष्ट्रोपघातकान्।
क्षिपेज्जनपदस्यान्ते सर्वान्वादापयेत्करान्।। कौ०अ०, पृ० ११४

२. **Etymologically, 'Nation' and 'Nationality' mean the something. They are both derived from the Latin word 'Natus' (Born), implying common ethnic origin.**
F.P.S.O., Chapter 2, P.No. 44

३. रा०वि०सि० (११), पृ० २१

४. रा०वि०भू०त०,पृ० ६६

राज्य और राष्ट्र

राज्य और राष्ट्र को लेकर प्राचीन समय से ही यह विचार चलता आया है कि राज्य और राष्ट्र में क्या समानता है और क्या विषमता है, यदि दोनों में समानता है तो फिर इनका पृथक्-पृथक् प्रयोग क्यों है और यदि इनमें विषमता है तो वह कितनी है।

राष्ट्र की परिकल्पना प्राचीन समय से थी और इसका व्यापक तथा भावनात्मक स्वरूप तभी से देखा गया है जब से यह कहा गया कि इस राष्ट्र में राजा, शूर, महारथी और धनुर्धर होवें[१]। इसी प्रकार से एक अन्य सन्दर्भ में पृथिवी की प्रार्थना की गई है और यह चाहा गया है कि पृथिवी इस राष्ट्र को बल और तेज देवे[२]। कामन्दक ने राज्य और राष्ट्र में पृथकता का संकेत उस कथन में किया है जिसमें यह कहा गया है कि राज्य के सभी अंगों का उद्भव राष्ट्र से होता है इसलिए राजा को चाहिए कि वह ऐसे सभी प्रकार के सम्भव प्रयत्न करे जिनसे राष्ट्र की बृद्धि होवे[३]।

राज्य के संबंध में जो विचार व्यक्त किए गए हैं, उनमें प्राचीन भावों को व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि तब किसी सार्वभौम सत्ता के लिए राज्य शब्द का प्रयोग होता था[४] और यह परम्परा विक्रमादित्य से प्रारम्भ हुई थी। इस परम्परा का विवेचन करते हुए यह संकेत किया गया है कि किसी देश अथवा भूभाग में और वहां के निवासियों के ऊपर शासन को राज्य कहते हैं[५]। इस रूप में राज्य किसी के शासित भूभाग को उपलक्षित करता है और

---

१. तै०सं० ७/५/१८/१
२. अथर्व १२/१/२
३. का० नी० ६/३
४. वै०को०, पृ० ४४५
५. हि०रा०शा०, पृ० ३५

यह अपेक्षाकृत एक सीमित सीमा का भी बोधक होता है।

राज्य के संबंध में और विस्तार से कथन करते हुए प्राचीन समय में इसके सात अंग कहे गए हैं। इन अंगों को वहां पर प्रकृति बताया गया है। आचार्य कौटिल्य और मनु का इसी प्रकार का संकेत है[१]। कौटिल्य ने तो राजा और राज्य में ऐक्य का इतना अधिक प्रतिपादन कर दिया है कि वे एक स्थान पर राजा को ही राज्य कह देते हैं[२]।

इस रूप में एक विद्वान् ने यह निष्कर्ष निकाला है कि राज्य में शासन की प्रधानता होती है। इसमें भाषा, संस्कृति, जाति, सम्पन्नता आदि के भाव गौण होते हैं। राष्ट्र की परिकल्पना में इन सबकी ही महत्ता अधिक रूप में होती है। राज्य की अपेक्षा राष्ट्र एक व्यापक भाव और स्वरूप को प्रकट करता है। राष्ट्र में अनेक राज्यों का अन्तर्भाव होता है। राष्ट्र में संघ विशेष के दर्शन होते हैं और इसमें वीरता, समृद्धि और सम्पन्नता के भाव अधिक प्रबलता के साथ मुखर होते हैं। यद्यपि राष्ट्र में भी राज्य और शासन का होना अपरिहार्य है तथापि राष्ट्र में जो एक भावनात्मक बन्धन होता है और जिस बन्धन से बँधकर प्रत्येक राष्ट्रवासी अपनी भाषा, भूमि, संस्कृति, परम्परा के प्रति गौरवान्वित होता है, वह राज्य की अपेक्षा राष्ट्र की अपनी एक पृथक् भाव भूमि है जो राष्ट्र को राज्य की अपेक्षा एक विस्तृत फलक प्रदान करती है। इसलिए राज्य की अपेक्षा राष्ट्र एक व्यापक फलक वाला होता है[३]।

---

१. म० स्मृ० ७/१५६; कौ० अ० ६/२

२. कौ०अ० ८/२

३. अ०रा०, पृ० ५६

आधुनिक राजनीतिकारों ने भी राज्य और राष्ट्र के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। इन विचारों को एक विद्वान् ने संकलित किया हैं जिसमें पश्चिम के विचार भी उल्लिखित हैं। वहाँ पर विल्सन महोदय का यह अभिमत उल्लिखित है जिसमें उन्होंने कहा है कि विधि द्वारा संघटित एक जन समुदाय के निश्चित भूभाग को राज्य कहा जाता है[१]। इसी प्रकार से वहाँ पर गार्नर महोदय का यह मत भी उल्लिखित है जिसमें यह कहा गया है कि राज्य प्रायः इस प्रकार के जनों के समुदाय का स्वरूप है जो सामान्यतः अधिक संख्यक होते हैं और एक निश्चित भूभाग में स्वतंत्र होकर रहते हैं[२]।

इसी तरह से एक और पाश्चात्य विद्वान् का मत वहाँ पर उद्धृत है जिसमें यह कहा गया है कि राज्य एक इस प्रकार के संगठन को व्यक्त करता है जिसमें सामाजिक कल्याण के लिए शक्ति का उपयोग किया जाता है[३]।

इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि राष्ट्र राजनैतिक सम्प्रभुता प्राप्त करने की भावना का प्रतीक है। राज्य उस सम्प्रभुता का उपयोग करने की संस्था है। राष्ट्र एक भावना है और इसका अनुभव एक विशेष भावना से ही होता है जबकि राज्य एक शासन द्वारा शासित संस्था है।

एक विद्वान् अपना मत देते हुए यह कहते हैं कि प्रथम स्तर में राजनैतिक सम्प्रभुता को पाने के लिए संघर्ष चलता है और द्वितीय स्तर में वह सत्ता उसके हाथ में होती है। प्रथम स्तर पर उसे राष्ट्र कहते हैं और द्वितीय स्तर पर वही राज्य कहा जाता है[४]। इसलिए राज्य और राष्ट्र में भिन्नता होते हुए भी एक प्रकार की अभिन्नता भी है।

---

१. रा० नी० शा०, पृ० २६-२८
२. वही, पृ० २६-२८
३. वही, पृ० २६-२८
४. सं०सा०रा०भा०, पृ० ४०

कौटिल्य की दृष्टि में राजा और राज्य

कौटिल्य का अर्थशास्त्र देखने पर और उनके विचारों का अध्ययन करने पर यद्यपि यह प्रतीत होता है कि वे एक ऐसे राज्य की स्थापना करना चाहते थे जो न केवल सर्वाधिकार सम्पन्न हो अपितु जिसकी ओर कोई आँख उठाकर भी न देख सके। फिर भी उनके विचारों के अनुरूप उसकी एक ऐसी कल्याणकारी नीति भी थी, जिसका उल्लंघन उसने कभी नहीं किया। इसीलिए उसकी निरंकुश सत्ता भी एक प्रकार से प्रजातंत्र की सत्ता जैसी ही प्रतीत होती है।

आचार्य कौटिल्य जब राजा के विषय में विचार करते हैं और उसके लिए नीति का निर्देश करते हैं तो सबसे पहले यह कहते हैं कि राजा का पहला कर्तव्य है कि वह प्रजा को प्रसन्न रखे। इस दृष्टि से तो यह लगता है कि राजा का कोई अस्तित्व ही कौटिल्य के विचारों में नहीं है अपितु प्रजा ही सभी कुछ है। राजा के लिए यह कहा गया है कि उसके मन में व्यक्तिगत सुख-सुविधा का ध्यान नहीं होना चाहिए अपितु उसे प्रजा के अभीष्ट की सिद्धि पर ही सम्पूर्ण रूप से ध्यान देना चाहिए। प्रजा का कुशल-क्षेम किस प्रकार सम्पादित हो, यह जानना और वैसा ही आचरण करना राजा का काम है। प्रजा का सुख राजा का सुख और प्रजा का हित राजा का हित है[१]।

---

१. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानांतु प्रियं हितम्।। कौ० अ०, पृ० ७७

कौटिल्य का राजा के लिए ऐसा नीति-निर्देश करना भारत की उस परम्परा का सूचन है जिसमें राजतंत्र की व्यवस्था होने पर भी राजा के अभिषेक के समय यह कहा जाता था कि यह राष्ट्र तुम्हें सौंपा जाता है। तुम इसके संचालक, नियामक और उत्तरदायित्वों के दृढ़वाहक हो। यह राज्य तुम्हें कृषि के कल्याण, सम्पन्नता, प्रजा के पोषण के लिए दिया जाता है[१]।

कौटिल्य ने राजा से यह अपेक्षा करते हुए उसे गुणज्ञ के रूप में बनने का भी निर्देश किया है। वह सत्कुलोत्पन्न हो, दैवबुद्धि वाला हो, वलवान् तथा धार्मिक हो, सत्यवादी, तत्त्ववक्ता तथा कृतज्ञता के भाव से भरा होवे। उसमें उत्साह हो और शीघ्रतापूर्वक कार्य सम्पादित करने की क्षमता होवे। वह दृढ़ निश्चयी होवे तथा विद्या व्यसनी हो। राजा सदा अपनी इन्द्रियों को वश में रखे, दूसरे की स्त्री तथा पर द्रव्य का वर्जन करे। स्वप्न में भी चंचलता की वृत्ति न रखे, झूठ न बोले तथा कुसंगति का परित्याग करने वाला होवे[२]।

राजा के कर्तव्यों में यज्ञ, प्रजापालन, न्याय, दान, शत्रु-मित्र से उचित व्यवहार तथा विविध विषयों के विद्वानों को उचित स्थान पर नियुक्त करना सम्मिलित है[३]। वह अमात्य की नियुक्ति का अधिकारी है और सभी की सम्मति से राज्य चलाने के लिए अधिकृत है[४]।

---

१. शु० य० ६/२२
२. एवं वश्येन्द्रियः परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत्। स्वप्नं लौल्यमनृत-मुद्धतवेषत्वमनार्यसंयोगं च अधर्मसंयुक्तमानर्थसंयुक्तं च व्यवहारम्। कौ०अ०,पृ० २३
३. वही, पृ० ७७

यद्यपि कौटिल्य कालीन समाज में एक राजा के अधीन राज्य का शासन चलता था और इस दृष्टि से वह राजतंत्र था किन्तु आचार्य ने राजा और उसके परिवार के लिए जिस प्रकार के कठोर नियमों का निबन्धन किया है, उससे ऐसा लगता है कि राजा को बहुत अधिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। राजा के लिए यह कह दिया गया है कि वह सम्पूर्ण राज्य का संचालन अकेले ही नहीं कर सकता इसलिए वह मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि की नियुक्ति करे तथा वह एक मन्त्रिपरिषद् बनावे जिससे परामर्श करके ही वह अपना कार्य करे।

कौटिल्य ने राजा और उनके परिवार के लिए वेतन तक की व्यवस्था की है जिससे वह भी प्रजा के लिए एक सेवक जैसा हो जाता है। यह अवश्य है कि वह सभी का प्रमुख है इसलिए उसे राज्य रूपी वृक्ष का मूल कहा गया है[१]।

राज्य के लिए बहुत प्राचीन समय से यह कहा जाता रहा है कि इसके सात अंग होते हैं। राजा, अमात्य, जनपद अथवा राष्ट्र, दुर्ग, कोश, दण्ड, मित्र ही सात अंग है। ऐसा ही महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है[२]।

राज्य की इस परिभाषा में अन्य सभी के महत्त्वपूर्ण होने पर भी दो अंगों का महत्त्व कौटिल्य की दृष्टि से अधिक प्रतीत होता है। एक है राजा और दूसरा है दण्ड। राजा के विषय में तो कौटिल्य यहाँ तक कह देते हैं कि राजा ही राज्य है[३]। किन्तु राजा के लिए जिन नियमों और आदर्शों का कथन किया गया है उससे उसकी एकाधिकार की प्रवृत्ति को बल नहीं मिल सका।

---

१. कौ० अ०, पृ० ५१२-५१५; शु० नी० ५/१२
२. कौ० अ०, पृ० २५७ ; या० स्मृ० १/३५३ ; मनु० स्मृ० ६/२६४
३. राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः। कौ० अ० ८/२

जहाँ तक दण्ड की महत्ता का प्रश्न है और इससे राज्य की व्यवस्था का संकेत है तो इसके सन्दर्भ में कौटिल्य ने विद्याओं पर विचार करते हुए आचार्य शुक्र का वह मत उद्धृत किया है जिसमें यह कहा गया है कि दण्डनीति ही एक मात्र विद्या है[१]। यद्यपि कौटिल्य ने इसमें यथावसर दण्ड देने की बात स्वीकार की है[२]।

किन्तु आचार्य कौटिल्य को दण्ड नीति का महत्त्व इस रूप में कहना ही पड़ा जिसमें उन्होंने यह कहा कि जब दण्ड का समुचित प्रयोग नहीं होता अर्थात् राजा समुचित दण्ड नहीं देता तो मात्स्य न्याय लागू हो जाता है। अर्थात् बलवान् निर्बल को दबा देता है[३]। वे यह भी कहते हैं कि इसी न्याय से अभिभूत होकर ही लोगों ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया था[४]।

राज्य की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में कौटिल्य ने ग्रामों के दल से राज्य के निर्माण की परिकल्पना की है। और फिर यह कहा है कि सम्पूर्ण राज्य की रक्षा के लिए नियमानुसार रक्षक दल बनाए जाने चाहिए[५]। इसी प्रकार से उन्होंने पृथक्-पृथक् विभागों के अध्यक्षों के कर्तव्यों का उल्लेख किया है और उनका कैसे सम्पादन हो- इसका भी संकेत किया है[६]।

इस रूप में कौटिल्य की दृष्टि से यदि राजा प्रजा के हित के लिए था तो राज्य की पूर्ण व्यवस्था का दायित्व भी उसी का था किन्तु इतने पर भी वही परम स्वतंत्र नहीं था।

---

१. कौ०अ०, पृ० १०
२. वही, पृ० १५
३. वही १/४
४. वही १/१३
५. वही २/१
६. वही, द्वितीय अधिकरण

समीक्षा तथा निष्कर्ष

इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि जिन राजनीतिक विचारकों ने राजा और राज्य पर विचार किया है वे यह मानते हैं कि आरम्भ से ही अर्थात् वैदिक काल से ही राजा और राज्य की कल्पना किसी न किसी रूप में की जा चुकी थी। प्रारम्भ में राजा को सम्भवतः कुछ संस्थाओं द्वारा निर्वाचित अथवा मनोनीत किया जाता था किन्तु बाद में राजपद उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होने लगा। आचार्य कौटिल्य ने भी राजा के उत्तराधिकार के क्रम को स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने राजा के लिए जिस प्रकार के नैतिक और आचारात्मक नियमों का बन्धन बाँधा है, उससे राजा के लिए यह कथमपि सम्भव नहीं हो सका कि वह स्वतंत्र होकर स्वच्छन्दता का आचरण करे। यद्यपि कौटिल्य ने राजा को ही राज्य कहकर राजा के पद की गरिमा को बढ़ाया है किन्तु राजा प्रजा के हित में स्वयम् का हित देखे- ऐसा निर्देश करके उसे प्रजा के लिए घोषित कर दिया है और प्रजा के हित-चिन्तन में ही उसके उज्ज्वल रूप को देखा है। इस तरह से तत्कालीन समय में राजा और राज्य अभिन्न थे और सभी का लक्ष्य प्रजा अर्थात् सामान्यजन का हित चिन्तन ही था।
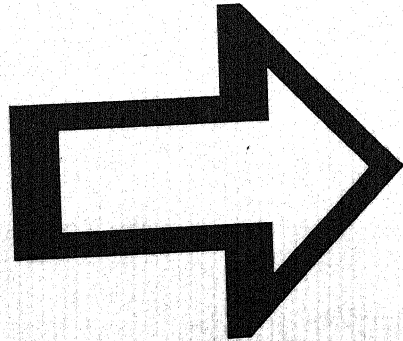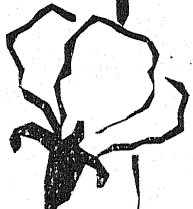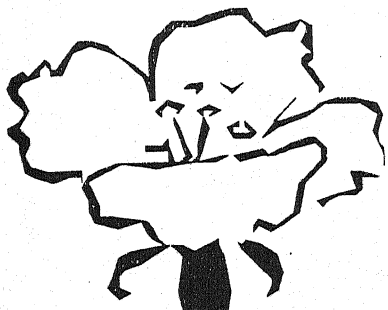
चतुर्थ अध्याय

(राजा और उसकी राजनीतिक दृष्टि)
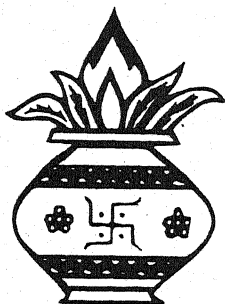
चतुर्थ अध्याय

(राजा और उसकी राजनीतिक दृष्टि)

राजा और राजनीति, राज्यकर्मचारी और उनकी शक्तियाँ, प्रशासन तथा न्याय, न्यायाधिकारियों की शक्तियाँ, न्याय और दण्ड, गुप्तचरों का प्रयोग, राजा के परराष्ट्र संबंधी नियम, साम, दाम, दण्ड और भेद नीति का प्रयोग, शत्रु राजा पर आक्रमण, पराजित राज्य की प्रजा के प्रति व्यवहार, सन्धि और सन्धि-नियम, शत्रु वध के प्रयोग।

चतुर्थ अध्याय
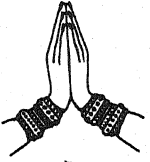
(राजा और उसकी राजनीतिक दृष्टि)

राजा और राजनीति

मनुष्य की सांस्कृतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों तथा प्राप्तियों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की गणना प्रारम्भ से ही की गई है। इनकी प्राप्ति विधिवत् हो सके इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज का वातावरण एतदर्थ अनुकूल होवे। इसलिए इस अनुकूलता की स्थिति का निर्माण करने का दायित्व सदा से ही राजा का रहा है। इसमें आचार्य और विचारक भी अपनी दृष्टि से सहयोग करते रहे हैं[१]। विचारक और आचार्य सदा से योजनाएँ बनाते रहे हैं और राजा उनका कार्यान्वयन करता रहा है। समाज की संघटन की योजना के अन्तर्गत राजा और प्रजा का जो सम्बन्ध रहा है वह राजा के राजनैतिक जीवन का प्रथम सूत्र रहा है। समाज में उपयुक्त योजनाओं के लिए यथोचित परिस्थितियों का निर्माण करना राजनीति का उद्देश्य है।

यद्यपि सांस्कृतिक रूप से समाज में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग सुलभ हो सकता है तथापि कुछ ऐसे लोग सदा से समाज में रहे हैं जो विधिविहित व्यवस्था के अन्तर्गत न तो कार्य करते हैं और न वे ऐसा कार्य दूसरे को करने देते हैं। वे कभी-कभी अपने विकृत व्यवहार से समाज के लिए अभिशप्त हो जाते हैं और पूरा समाज उनके इस व्यवहार से त्रस्त हो जाता है। ऐसे लोगों को सत्पथ पर लाने के लिए राजदण्ड की आवश्यकता होती है और राजदण्ड के सामर्थ्य से ही इनको नियन्त्रित करना सम्भव हो पाता है। राजा की राजनीति में यह भी एक अंग है और सहायक है।

---

१. श०ब्रा० ५/४/४/५

इस दृष्टि से राजा और उसकी राजनीति की प्रतिष्ठा के लिए प्राचीन समय से ही जो संकेत मिलते हैं उनमें राजा को इन्द्र, वरुण, पूषा आदि देवों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है और उनसे ऐसे कार्यों की अपेक्षा की गई जिनसे देवत्व झलकता हो। तब यह कल्पना की गई कि वह वरुण के रूप में प्रजा के कल्याण के लिए प्रयत्नशील हो[१]। शासन विधान की प्रतिष्ठा करे[२]। वह प्रजा के जीवन से तादात्म्य स्थापित करे[३]। चोरों से प्रजा की की रक्षा करे[४] एवं प्रजा का राजा होकर प्रजा का विधिवत पालन करे।

इसी रूप में प्राचीन समय में राजा का जब अभिषेक किया जाता था तो उसे जो सन्देश दिया जाता था उसमें उसकी राजनीति का स्पष्ट संकेत होता था, जिसमें कहा जाता था कि राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा के अभ्युदय के लिए काम करे। अभिषेक के समय प्रजा राजा से यह अपेक्षा करती थी कि जिस प्रकार वर्षों से सम्पूर्ण प्रजा का हित सम्पादन होता है उसी तरह से राजा हमारा हित-सम्पादन करे। राजा को एक स्थान पर इसी दृष्टि से राष्ट्र भृत अर्थात् राष्ट्र का भरण-पोषण करने वाला कहा गया है[५]।

राष्ट्र को समृद्ध करने के लिए वह राजा विविध प्रकार के आयोजन करता था और प्रजा के लिए ऐसी व्यवस्था करता था जिससे विपत्तियों से उसका त्राण होवे। वह धर्म अर्थात् सत्य रूप धर्म और कर्तव्य रूप धर्म का रक्षक भी होता था[६]।

---

१. ऋक् ५/८५/३
२. वही १/२५/१०
३. वही २/२८/६
४. वही २/२८/१०
५. श०ब्रा० ४/५/४/१४; ६/३/३/११
६. ऐ० ब्रा० ८/६

महाभारत कालीन समय में भी राजा के लिए जिन कर्तव्यों का संकेत है, वही उसके राजनीति के अंग हैं। वेद व्यास ने तथा वाल्मीकि ने लिखा है कि राजा पाप करने वालों को दण्ड देता था। कृपण, अनाथ, बृद्धों के आँसू पोछता था। वह शत्रुओं का क्षय करता हुआ साधुओं की पूजा करता था[१]। उसे यह भी करना होता था कि वह अपने धर्म का पालन करे और चातुर्वर्ण व्यवस्था के अनुसार अन्य सभी से भी अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करावे। जो चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को भंग करें, राजा उनके लिए दण्ड की व्यवस्था करे[२]।

आचार्य कौटिल्य राजा के लिए जिस जीवन दर्शन की अवधारणा को आकार देते हैं वह भी इसी प्रकार की धारणा ही दिखाई देती है। वे लिखते हैं कि राजा चतुर्वर्ण की प्राचीन व्यवस्था के अनुसार उनके कर्तव्यों का निर्वाह उनसे करावे। सभी आश्रमवासियों से भी उनके आश्रमों के लिए निर्धारित कर्मों का भी सम्पादन करावे। वह वर्णों और आश्रमों के आचारों का पालन कराते हुए धर्म की स्थापना करे[३]।

कौटिल्य ने राजा के लिए करणीय कार्यों का विवरण देते हुए यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई संन्यासी मिथ्याचार का व्यवहार करता है तो राजा उसे भी दण्ड दे सकता है और उसे सत्पथ में प्रवृत्त कर सकता है क्योंकि राजा युग प्रवर्तक है और सभी को अपने कार्यों में प्रवृत्त कराने वाला है। कौटिल्य का इसीलिए यह मानना है कि चारों वर्णों और आश्रमों के लोग राजा के दण्ड के द्वारा पालित होने पर अपने कर्म में निरत होकर अपने-अपने पथ पर चलते हैं[४]। और कौटिल्य की इस अवधारणा के साथ हम पाश्चात्य चिन्तक प्लेटो के उन विचारों का साम्य देख सकते हैं जिनमें वे लिखते हैं कि राजा का

---

१. म०भा०शां० प०६६ वाँ अध्याय; वा०रा० उ० काण्ड ५६/१०

२. वा०रा० सु० का० ३५/११; बालकाण्ड २५/१७

३. कौ०अ० ३/१

४. वही १/४/१६

कर्तव्य सम्पूर्ण समाज के हित का ध्यान रखना, सामाजिक नियमों एवं परम्पराओं की स्थापना करना और विभिन्न वर्गों को अपने-अपने क्षेत्र में काम करने के लिए बाधित करना है[१]।

इस रूप में प्राचीन परम्परा के साथ ही कौटिल्य तक जो भी राजा के लिए करणीय कहा गया है वह उसकी प्रतिष्ठा होती थी और जब वह प्रजा के हित-चिन्तन के कार्यों में संलग्न रहता था तभी उसका राज्य ठीक से संचालित होता था। इसलिए तत्कालीन समाज में राजा की पूरी की पूरी राजनीति प्रजा के हित को ध्यान में रखकर ही संचालित होती थी और तभी राजा अपने राज्य संचालन में और अपनी राजनीति में सफल होता था।

राजा की राजनैतिक शक्ति

राजा के स्वरूप की कल्पना में प्राचीन समय से ही महनीयता रही है। प्राचीन समय में ही राज्य की जो सात प्रकृतियाँ कही गई हैं राजा उनमें से प्रथम प्रकृति के रूप में स्वीकृत है। वैदिक काल में राजा इसी आदर्श पर प्रतिष्ठित होकर लोक कल्याण की भावना से कार्य करते रहे हैं। राजा का व्यक्तित्व इतने विराट रूप में परिकल्पित रहा है कि उसमें भू,भुवः का भी अन्तर्भाव माना जाता रहा है। वह इस जगत् का प्रेरक था और द्यावा-पृथिवी को धारण करने वाला था। वह युद्ध स्थल का सेनानी था। अन्य

---

१. Rep (4) 420, P 164, वही (६) ४८४, P244, वही (४) ४२१, P165

वीर योद्धा उसका अनुकरण करते थे। वह शत्रुओं को पराजित करने के बल से ओत-प्रोत होता था। वह अतिशय कर्मण्य और देवबल से सम्पन्न होता था[१]। अभिषेक के समय उससे कहा जाता था कि उसमें सोम, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, चन्द्र की तेजस्विता का आधान किया जा रहा है। वह इस साम्राज्य का शासक बने[२]। अभिषेक के अवसर पर उसकी योग्यता के अनुसार उसे उग्र, मित्रवर्धन, वृष, व्याघ्र, सिंह आदि की उपाधियों से विभूषित किया जाता था। वह अपने तप ब्रह्मचर्य से राज्य की रक्षा करने में सक्षम होता था[२]। अथर्ववेद में उसे सिंह और व्याघ्र का प्रतीक कहा गया तथा उसे मनुष्यों में उत्तम बताया गया है[३]।

मनु ने राजा के सामर्थ्य का संकेत और स्पष्टत: के साथ इस रूप में किया है जिसमें वे लिखते हैं कि राजा इन्द्र, वायु, सूर्य, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर का अंश लेकर उत्पन्न होता है। इसलिए वह अपने तेज और सामर्थ्य से सभी प्राणियों को अभिभूत करता है।

जहां राजा के द्वारा शासन करने के लिए प्राप्त राजनैतिक शक्तियों का प्रश्न है तो उसके लिए यह लिखा गया है कि वह दण्ड के माध्यम से प्रजा पर शासन करने का अधिकारी होता था। यद्यपि वह दण्ड देने में अकेले ही सक्षम नहीं था क्योंकि उसे परामर्श देने के लिए सभासदों की समिति हुआ करती थी। श्री राम के सन्दर्भ में ऐसे ही संकेत हैं कि वे सभासदों से विचार-परामर्श करके ही उचित दण्ड देने का निर्णय करते थे[४]। ऐसा ही मनु और शुक्र आदि ने भी लिखा है[५]।

---

१. ऋक् ४/४८; म०स्मृ० ७/४-५; भा०पु० ४/१४
२. ऋक् ११/५/१७
३. सिंह प्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रं प्रतीकोऽवबाधस्व शत्रुन्। अथर्व० ४/२२/७; ४/२२/५
४. वा०रा० उ०का० ५९/३१-३२
५. म०स्मृ० ४/३९०; शु०नी० २/९९

ऐसा ही विचार एक अन्य विद्वान् का भी है जिसमें वे यह स्वीकार करते हैं कि राजा के लिए दण्ड देकर प्रजा में अनुशासन और व्यवस्था बनाए रखना उनकी ड्यूटी थी[१]।

आचार्य कौटिल्य यद्यपि राजा की शक्तियों का संकेत इस रूप में करते हैं जिसमें वे उसे अमात्यों की नियुक्ति का अधिकार देते हैं, मन्त्री और पुरोहित को नियुक्त करने का अधिकारी बताते हैं। दूसरे शत्रु तथा मित्र राजाओं से सन्धि आदि के व्यवहार का अधिकार देते हैं किन्तु इस सब के बाद भी उसे स्वामी कहकर भी उसके लिए इतने प्रकार के बन्धन लगाते हैं जिसमें यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य की दृष्टि से राजा की शक्तियाँ अत्यल्प हैं। राजा अपनी शक्ति के सामर्थ्य से जो कार्य कर सकता है उसमें वह यज्ञ करावे, प्रजा का पालन करे और न्याय-व्यवस्था में अपने दायित्व का निर्वाह करे[२]।

किन्तु यह सब करता हुआ भी राजा पूरी तरह से शक्ति सम्पन्न इसलिए नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय कार्यों का सम्पादन राजा अकेले नहीं कर सकता है[३]। इसी प्रकार से राजा के लिए मंत्रियों के साथ मन्त्रणा करके कार्य करना अपरिहार्य था। कौटिल्य लिखते हैं कि वह आवश्यक रूप से मन्त्रियों के साथ बैठकर कार्यों का निर्णय करे और ऐसी स्थिति में चाहे वे दो ही मन्त्री होवें[४]। आवश्यक कार्य आ जाने पर भी राजा को मन्त्रियों की सम्मति लेना आवश्यक है[५]।

---

१. The King is not free to inflict punishment according to his own sweet will. ....
This made of his conduct has been regarded as his highest duty. P.I.I.M., P. 242

२. कौ०अ०, पृ०७७

३. वही, पृ० २६

४. वही, पृ० ५६

५. वही, पृ० ५८

राज्य कर्मचारी और उनकी शक्तियाँ

राजा के सहायकों और उनके कर्मचारियों के सम्बन्ध में वेद और ब्राह्मणकाल से कुछ न कुछ संकेत मिलने लगे हैं किन्तु तब उन कर्मचारियों के स्वरूप और उनके कार्यों के विषय में विशेष विवरण उपलब्ध नहीं हैं। इतना संकेत तब अवश्य है कि 'रत्मिन' नामक एक परामर्शदाता मण्डल उस समय होता था जो समय पर राजा को परामर्श देता था[१]। राजा के जो महत्वपूर्ण कार्य हैं और जितना व्यापक उसका कार्यक्षेत्र है उसमें यह स्वाभाविक ही है कि उसकी सहायता के लिए और उसकी योजनाओं का कार्यान्वयन करने के लिए उसके पास कोई न कोई सहयोग का आधार हो। एक विद्वान् यह कहते हैं कि ऋग्वेद में प्रयुक्त राजन्य शब्द भी ऐसा ही संकेत करता है जिससे यह प्रतीत होता है कि राजकार्यों के सम्पादन का भार व्यक्ति के रूप में राजा के ऊपर न होकर सामूहिक रूप से उसके ऊपर था जिसे राजन्य कहकर पुकारा जाता था[२]।

एक विचार इस प्रकार का व्यक्त किया गया है कि सूत्र काल में गांवों के साथ-साथ नगरों में भी स्थानीय शासन की व्यवस्था प्रारम्भ हुई। नगर के पदाधिकारियों की अध्यक्षता नगर के चारों ओर एक योजन दूर तक थी और गांव के मुखिया का शासन गांव के चारों ओर एक कोस तक था। इस क्षेत्र की शान्ति और व्यवस्था का दायित्व इन्हीं के ऊपर होता था। यदि इस शासन की परिधि के भीतर चोरी आदि होती थी और उसका पता नहीं चलता था तो चोरी का सामान इन पदाधिकारियों को देना पड़ता था[३]।

---

१. H.P., 196-197
२. वे०का०दा०व्य०, पृ० ६७
३. प्रा० भा० सा०सां०भू०, पृ० ५५१

महाभारत में जो संकेत हैं उनके अनुसार राजा के कार्यों की सहायता के लिए अनेक पदाधिकारी होते थे। तब, शासन की दृष्टि से प्रांतों में जो विभाजन होता था उनमें गांव और नगर इकाई होते थे। यद्यपि तब नगरों की व्यवस्था के प्रति राजा अधिक सतर्क होता था किन्तु सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए सेना नियोजित रहती थीं[१]। शान्ति पर्व में यह संकेत है कि एक से हजार गांवों तक की व्यवस्था के लिए अधिपति नायक पदाधिकारी होता था जो सचिव से मिलकर कार्य करता था। इनके दो कार्य थे- एक ग्राम कृत्य जिसमें स्वच्छता, सड़क निर्माण, जलाशय तथा सभाभवन का निर्माण सम्मिलित था[२]।

वाल्मीकि रामायण में राजा दशरथ और रावण के कर्मचारियों के कर्तव्यों और अधिकारों का जिस प्रकार का संकेत है उसके अनुसार राजा जिन श्रेष्ठ मन्त्रियों को नियोजित करता था उनमे जो 'गुरवः' कहे जाते थे वे राजा के लिए आदर्श होते थे और विशेष स्थितियों में राजा उनसे मन्त्रणा करता था[३]। यह अवश्य है कि मन्त्रिमण्डल का आकार तब बड़ा नहीं होता था और यह आचार्य मनु तथा शुक्र के अनुरूप गठित हुआ प्रतीत होता है[४]।

संस्कृत महाकाव्यों में यह कहा गया है कि राजा के मन्त्रियों अथवा अन्य कर्मचारियों के सम्बन्ध में कार्य विभाजन की कोई स्पष्ट रूप रेखा नहीं है इसलिए उनकी शक्तियों का अनुमान करना भी कठिन है। सम्भवतः इसी लिए एक विदेशी विद्वान् ने अमात्यों ने नाम के आधार पर उनका कार्य-विभाग और उनकी शक्ति का अनुमान किया है[५]।

---

१. म०भा०स०पं०, पंचम अध्याय
२. वही, शान्ति पर्व ८८/३-१०
३. वा०रा०बालकाण्ड४,८; R.P., P. 47
४. वही ७,३; मनु० स्मृ० ७/५४; शु० नी० २/७१-७४
५. वा०रा०रा०वि०, पृ० १०६

राजा के जो मन्त्री थे उनका अधिकार और उनकी शक्तियाँ इतनी थीं जिनसे वह राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाए रख सकते थे और अपराधी पुरुषों को दण्ड देते थे। इसके लिए वे गुप्तचरों की सहायता लेते थे। किन्तु मन्त्रियों पर यह प्रतिबन्ध था कि वे अपराध के अनुरूप ही दण्ड की व्यवस्था करें[१]। शत्रुओं से राज्य की रक्षा हो इसके लिए भी मन्त्री सैन्य संगठन में राजा के सहयोगी होते थे[२]। वे राजकोष के संग्रह के लिए भी उत्तरदायी होते थे[३]।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने पौरजानपद के पदाधिकारियों के कार्यों और अधिकारों का संकेत किया है और इसे राजनैतिक संगठन माना है जबकि कुछ विद्वान् इसे ऐसा कोई संगठन मानने को तैयार नहीं है जिसके कुछ अधिकार होते हों[४]।

आचार्य कौटिल्य ने राजा के साथ काम करने वाले कर्मचारियों में सबसे पहले मन्त्रियों की ही चर्चा की है। वे मन्त्रियों की सभा को मन्त्रिपरिषद् कहते हैं और यह निर्देश राजा के लिए करते हैं कि वह बिना मन्त्रिपरिषद् के सलाह के कोई काम न करे[५]। कौटिल्य के इस कथन से इतना स्पष्ट होता है कि मन्त्रि परिषद् की इतनी शक्तियाँ तब थीं जिसमें वे अपने विचार से कार्य करने को राजा को बाध्य कर सकते थे। आचार्य का यह मत मनु और याज्ञवल्क्य से मिलता है जिसमें इन आचार्यों ने राजा के लिए मन्त्रिपरिषद् की सलाह लेने की अनिवार्यता बताई है[६]।

१.वा०रा० बालकाण्ड ७/१५; ७/१२; ७/१३ ; ७/६; ७/१३

२. वही ७/११

३. वही ७/११-१३

४. H.P., P. 238; 245, R.P., P 37-68; S.G.A.I., P, 145-147

५. कौ०अ०, पृ०५८

६. म०स्मृ० ७/३०-३१; या०स्मृ० १/३११

यद्यपि कौटिल्य कालीन राज्यों में राजा की ही सर्वोपरता रहती थी किन्तु कौटिल्य ने मन्त्रियों के महत्व को इस रूप में स्वीकार किया है जिसमें उन्होंने यह लिखा है कि राजा और मंत्री राज्य रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं जिनके बिना यह राज्य आगे नहीं बढ़ सकता। मन्त्री ही राजा का ऐसा सहायक है जो विपत्ति के समय उसकी रक्षा करता है और प्रमाद के समय उसको सावधान करता है[१]।

कौटिल्य ने मन्त्रियों के चार विभाजन किए हैं। ये विभाजन सम्भवत: उनकी श्रेष्ठता और उनकी वरिष्ठता पर आधारित रहे होंगे। ये चार हैं- मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज। इसके अतिरिक्त पौर तथा जानपदों को भी इसमें सम्मिलित किया गया है[२]। इस परिषद् का अधिकार क्षेत्र इतना व्यापक था कि इसमें केवल राजा ही नहीं आता था अपितु इस कार्यपरिषद् के क्षेत्र में राष्ट्र के विविध कार्य, विविध विभाग के अध्यक्षों की रीति-नीति भी आती थी।

कौटिल्य ने शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में जिन कर्मचारियों का उल्लेख किया है उनमें छोटे स्तर पर ग्राम मुखिया (ग्रामीण) गोप, स्थानिक और नागरिक होते थे। इन सभी के ऊपर देख-रेख के लिए जिस अधिकारी की नियुक्ति होती थी वह समाहर्ता कहा जाता था[३]। इस रूप में मन्त्रियों से लेकर नीचे तक के जो अधिकारी होते थे वे सभी अपने-अपने अधिकारों का प्रयोग कर राज्य के संचालन में अपना सहयोग करते थे। समाहर्ता दुर्ग, राष्ट्र खनि, सेतु, वन, ब्रज और व्यापार के कार्यों का निरीक्षण करता था[३]।

---

१. कौ०अ०,पृ० २४
२. वही, पृ० ४०
३. समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं ब्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत। वही, पृ० ११६

राजा के अन्य जो अधिकारी होते थे उनकी नामावली में मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, अन्तरवंशिक, प्रशास्तृ, समाहर्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, नायक, पौर, व्यावहारिक, कार्मान्तिक, सभ्य, दण्डपाल, अन्तपाल, दुर्गपाल गिने गए हैं[१]।

इनमें से समाहर्ता, कोषाध्यक्ष, आयुधाकार, अध्यक्ष, सेनापति आदि ऐसे महत्वपूर्ण पदाधिकारी थे जो मन्त्रियों के बाद राज्य के मुख्य कर्मचारी कहे जा सकते हैं।

इनमें से कोषागार अध्यक्ष के लिए यह कहा गया है कि वह कोषगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह का निर्माण करावे। वह वस्तु विशेषज्ञ की सहायता से रत्न, चन्दन, वस्त्र, लकड़ी आदि का संकलन करे। सिक्कों के पारखी के द्वारा सिक्कों का संग्रह करे। इसी प्रकार से जो धान्याधिकारी है, वह शुद्ध और पूरा अन्न संकलित करे। इसी प्रकार से पण्य और कुप्य तथा आयुध आदि के अधिकारियों को भी करना चाहिए[२]।

इसी प्रकार से गणक अर्थात् आय-व्यय निरीक्षक के कर्तव्य भी निर्धारित थे और उसकी शक्तियाँ भी रेखांकित थीं। वह सभी विभागों की नामावली, जनपद की पैदावार, आमदनी का विवरण आदि रखने का अधिकारी होता था। वह सभी विभागों के लेखा-जोखा के रख-रखाव का अधिकारी था[३]।

इसी प्रकार से अन्य विभागों के कर्मचारियों के भिन्न-भिन्न कर्तव्यों का उल्लेख कौटिल्य अर्थशास्त्र में है और सभी अपने क्षेत्र के अधिकारी थे और राजा तथा मन्त्री के प्रति उत्तरदायी होते थे।

---

१. कौ० अ०, भू० पृ० ३४
२. वही, पृ० ११७
३. वही, पृ० १२४-१२५

प्रशासन तथा न्याय

यह विदित है कि प्राचीनकाल में राज्य व्यवस्था में धर्म का स्थान सर्वोच्च रहा है। राज्य के सभी वर्ग के लोग, राजा और कर्मचारी धर्म का आश्रय लेकर ही कार्य संचालित करते रहे हैं। समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था का भार सम्हालने वाला राजा भी धर्म के बन्धन से इतना बंधा हुआ था कि उसे भी इसमें संशोधन करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। प्रशासन चलाने के लिए और प्रजा को न्याय दिलाने के लिए तब शास्त्रीय कानूनों का सहारा लिया जाता था और उन्हीं से निर्देशित होकर प्रशासन चलाता था तथा प्रजा को दण्डादि के द्वारा न्याय मिलता था। यद्यपि राजा को कोई ऐसा कानून बनाने का अधिकार नहीं था जिससे वह स्वच्छन्द हो सके किन्तु उसे इतनी छूट अवश्य थी कि वह आवश्यकता पड़ने पर ऐसा नियम बना सकता है जो धर्म के विरुद्ध न हो और जिससे राजा को असीमित अधिकार न मिल जावे। इस विषय में यह लिखा है कि जहाँ भी चरित्र तथा लोकाचार का विचार किया गया है वहाँ पर धर्म को अत्यधिक महत्व दिया गया है।

आचार्य कौटिल्य यह लिखते हैं कि चारो वर्ण, चारों आश्रम, सम्पूर्ण लोकाचार और नष्ट होते हुए सभी धर्मों का रक्षक राजा है इसलिए उसे धर्म का प्रवर्तक माना जाता है। धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा ये विवाद के निर्णायक साधन होने के कारण राष्ट्र के चार पैर कहे जाते हैं। इन्हीं पर राज्य टिका हुआ होता है। इनमें भी धर्म से व्यवहार, व्यवहार से चरित्र और चरित्र की अपेक्षा राजाज्ञा श्रेष्ठ है। इसमें धर्म सच्चाई में, व्यवहार साक्षियों में, चरित्र समाज के जीवन में और राजाज्ञा राजकीय शासन में स्थित रहती है[1]।

---

१. अत्र सत्ये स्थितों धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम्।। कौ० अ०,पृ० ३१८

इसी कारण से कौटिल्य का यह कथन है कि जो राजा धर्म पूर्वक शासन करता है, चरित्र का पालन करता है तथा प्रजा को न्याय देता है, वह पृथिवी का स्वामित्व प्राप्त करता है। और कौटिल्य यह भी कहते हैं कि जहां चरित्र और लोकाचार के साथ धर्मशास्त्र का विरोध हो तो धर्मशास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिए। यद्यपि कौटिल्य ने यह छूट अवश्य दी है कि कहीं राजा के शासन करते हुए धर्मशास्त्र के साथ उसका विरोध दिखाई दे तो फिर राज्य के शासन को ही प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से धर्मशास्त्र का ही पालन होता है[१]।

राजा राज्य कार्य की व्यवस्था नियमित ढंग से करता रहे, इसके लिए कौटिल्य ने उसकी दिनचर्या को दो भागों में अर्थात् रात्रि और दिन के भागों में बांट दिया है। ब्रह्ममुहूर्त में उठने के बाद राजा रात्रि में शयनपर्यन्त किस प्रकार से काम करे- इसका विस्तार से विवरण आचार्य कौटिल्य ने दिया है। कौटिल्य ने राजा के कार्यों में यज्ञ कराना, प्रजापालन करना, न्याय, दान, शत्रु-मित्र से उचित व्यवहार करना, विभिन्न विषयों के प्रकाण्ड विद्वानों को उनके उपयुक्त स्थानों पर नियुक्त करना सम्मिलित किया है और इसे ही राजा का सुशासन कहा है। क्योंकि राजा के सुशासन से राज्य की सभी विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं तथा राज्य उन्नति और कल्याण की ओर बढ़ता है[२]।

---

१. संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यवहारिकम्।
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत्।।
शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाठो हि नश्यति।। कौ०अ०, पृ० ३१६

२. वही, पृ० ७७

राजा के प्रशासन और न्याय के विषय में कौटिल्य ने यह निर्देश किया है कि राजा को उद्योगशील होना चाहिए। अर्थात् वह स्वयम् ही सक्रिय रहे और व्यक्तिगत रूप से उचित देख-रेख करता रहे। वह अपने दरबार में प्रत्येक कार्यार्थी को बिना रोक टोक के आने देवे। क्योंकि जो राजा प्रजा को सहजभाव से दर्शन नहीं देता और उसकी कठिनाईयों को नहीं सुनता तो उसके कर्मचारी ही राजा के कार्य को उलट-पलट देते हैं। परिणाम यह होता है कि राज्य कार्य अनियमित हो जाते हैं और राजा शत्रुओं के अधीन हो जाता है।

इसलिए कौटिल्य निर्देश करते हैं कि राजा देवालय, पाखण्डियों के स्थान, पशुशाला आदि का निरीक्षण स्वयम् करे। बाल, बृद्ध, रुग्ण, अनाथ, स्त्रियों आदि से सम्बद्ध कार्य स्वयं सम्पादित करे[१]।

राजा अपने प्रशासन में किस प्रकार से चुस्त हो और कैसे न्याय करे, इसके लिए आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि पहले वह उस कार्य को देखे जिसका समय बीत रहा हो। उसे करने में बिलम्ब न करे। जिस कार्य का समय बीत जाता है कष्ट साध्य हो जाता है[२]।

राजा के प्रशासन में उसके द्वारा ठीक से निर्णय होवे इसके लिए आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि वह पुरोहितों और आचार्यों के साथ यज्ञशाला जावे, तपस्वियों और मायावियों के निर्णय अकेले न करे, शत्रु-मित्र का विवेक और उनके गुण-दोषों का विवेचन ठीक से करे तभी न्याय और प्रशासन की व्यवस्था होती है।

---

१. कौ०अ०,पृ० ७६
२. सर्वमात्ययिकं कार्यं श्रृणुयान्नातिपातयेत्।
कृच्छ्रसाध्यमतिक्रान्तमसाध्यं वा विजायते।। वही, पृ०७७
२. वही, पृ० ७७

न्यायाधिकारियों की शक्तियाँ

प्राचीन आचार्यों ने राजाओं के लिए सदा यह निर्देश दिया है कि वे अपने राज्य में न्याय और व्यवस्था पर सदा ध्यान देते रहें[१]। आचार्य शुक्र ने यह मत व्यक्त किया है कि प्रजा में न्याय के कार्य का सम्पादन कुछ सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए। वहाँ पर यह कहा गया है कि पारस्परिक कलह अथवा विवाद ग्रस्त विषयों का निर्णय स्थानीय लोगों एवं वादी तथा प्रतिवादी के वर्ग अथवा जाति के समीपवर्ती लोगों के द्वारा होना चाहिए[१]। आचार्य मनु यह संकेत करते हैं कि न्यायाधीशों द्वारा निर्णय किए जाने में तीन पंचों की सहायता भी ली जानी चाहिए[२] तथा जो कानून है उसका ठीक-ठीक विवेचन हो सके, इसके लिए एक विद्वान् ब्राह्मण नियोजित होवे[३]।

आचार्य कौटिल्य न्यायाधिकारियों के शक्ति-सामर्थ्य का इस रूप में कथन करते हैं जिसमें वे यह लिखते हैं कि न्याय-व्यवस्था का पूरा का पूरा भार राज्य के धर्मशास्त्र विद् तीन सदस्यों और तीन अमात्यों के ऊपर निर्भर होना चाहिए। उन्होंने विधि के चार स्त्रोतों का कथन किया है। ये स्त्रोत हैं- धर्म, व्यवहार, चरित्र और राज्य शासन। उन्होंने यह भी संकेत किया है कि राजा को विधि का प्रशासन धर्म, व्यवहार, लोकाचार और न्याय के अनुसार करना चाहिए। इसीलिए यह भी मानना चाहिए कि प्रशासन न्याय पर आधारित है[४]।

---

१. शु० नी० ४/५४१
२. म०स्मृ० ८/१०
३. वही ६/२०
४. कौ०यु०द०, पृ० ७७

कौटिल्य ने न्याय की दृष्टि से सम्पूर्ण प्रजा को एक जैसा माना है उन्होंने अपने ग्रन्थ में दो प्रकार के न्यायालयों का संकेत किया है। एक प्रकार के न्यायालय का नाम है धर्मस्थीय न्यायालय और दूसरे प्रकार का न्यायालय है 'कण्टकशोधन' न्यायालय। एक विद्वान् इन दो प्रकार के न्यायालयों की तुलना वर्तमान समय में करते हुए यह लिखते हैं कि हम धर्मस्थीय न्यायालय को दीवानी **(Civil)** और कण्टकशोधन न्यायालय को फौजदारी **(Criminal)** न्यायालय कह सकते हैं।

कौटिल्य ने धर्मस्थीय प्रकरण का प्रारम्भ करते हुए यह लिखा है कि दो राज्यों अथवा गांवों की सीमा पर, दस गांवों के केन्द्र में, चार सौ गांवों के केन्द्र में, आठ सौ गांवों के केन्द्र में, तीन-तीन न्यायाधीश एक साथ रहकर इकरारनामा, शर्तनामा आदि व्यवहार-संबंधी कार्यों का सम्पादन करें[२]।

कौटिल्य ने इन न्यायाधीशों की शक्तियों का उल्लेख इस रूप में किया है कि ये न्यायाधीश उचित रीति से न किए गए शर्तनामों को निरस्त करें और ऐसे लोगों को दण्ड देवें। इसी प्रकार चोरी, अपहरण, बलात्कार, राजाज्ञादि के उल्लंघन पर विचार किया जाए और यथोचित निर्णय दिया जाए। निर्णय करने के लिए आवश्यक है कि अपराधी का अपराध भली प्रकार देख लिया जाए। उसने अपराध स्वीकार किया हो, ठीक से जिरह हुई हो और ठीक से अपराध के कारणों का पता चल गया हो। यदि इससे कार्य न चले तो गुप्तचरों से पता करके अपराध पर फैसला देना चाहिए[३]।

---

१. कौ०यु०द०,पृ० ७६
२. धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसंधिसंग्रहणद्रोणमुखस्थानीयेषु व्यावहारिकानर्थान् कुर्युः।
कौ०अ०,पृ०३१३

३. वही, पृ० ३१६

कण्टकशोधन प्रकरण में आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि तीन प्रदेष्टा, जिसे एक विद्वान् कमिश्नर कहते हैं अथवा तीन मन्त्री प्रजा-पीडक व्यक्तियों से प्रजा की रक्षा करें, इसी को कण्टकशोधन कहा गया है[1]। इस प्रकरण में प्रजावर्ग के सम्पूर्ण लोगों के लिए रक्षात्मक विधान का कथन है और कोई किसी तरह से किसी का भी उत्पीडन न कर सके, इसका निर्देश है। सभी को न्याय मिले और दण्ड का अधिकारी दण्ड पावे, यह न्यायाधीश का कार्य करने वालों की शक्ति का व्यवहार है।

अपनी प्राचीन परम्परा का अनुपालन करते हुए भी कौटिल्य ने दो प्रकार के न्यायालयों का संकेत किया है। एक प्रकार का न्यायालय का नाम धर्मस्थीय और दूसरे प्रकार का न्यायालय कण्टकशोधन होता था। सामान्यतः इनमें निर्णय करने के लिए तीन न्यायाधीश बैठते थे। अपराध प्रमाणित होने पर इनके द्वारा अपराधियों को दण्ड दिया जाता था। गुप्तचर जहाँ एक ओर अपराधियों पर निगाह रखते थे, वहीं वे न्यायाधीश की निगरानी करते थे[2]।

कौटिल्य के दिए गए संकेतों से यह प्रकट होता है कि तब सबसे छोटा न्यायालय ग्राम संस्था अर्थात् ग्राम संघ का होता था। इसमें ग्राम के निवासी स्वयम् निपटारा कर लेते थे। इसके ऊपर संग्रहण, द्रोणमुख तथा जनपद संधि के न्यायालय होते थे। सबसे ऊपर राजा होता था और किसी भी मामले में अन्तिम निर्णय करने का अधिकार उसका होता था।

---

१. प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयोऽमात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः। कौ० अ०, पृ० ४२१

२. वही, पृ० ४३

न्याय और दण्ड

आचार्य कौटिल्य ने न्याय की दिशा में बड़ी ही सूक्ष्मता से विचार किया है और तब दण्ड की व्यवस्था की है। उन्होंने कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में विद्या संबंधी विचार करते हुए दण्ड को नीति माना है और यह भी स्वीकार किया है कि बिना दण्ड दिए प्रजा का कार्य नहीं चलेगा। किन्तु वे दण्ड देने के पूर्व पर्याप्त विचार करके न्याय पूर्वक दण्ड देने के ही पक्षपाती हैं। इसलिए वे लिखते हैं कि आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता इन सभी विद्याओं की सुख-समृद्धि दण्ड पर निर्भर है। दण्ड को प्रतिपादित करने वाली नीति ही दण्डनीति है। वही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराती है, प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करती है, रक्षित वस्तुओं की बृद्धि करती है, और संवर्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। इसी पर संसार की लोक यात्रा निर्भर है। इसलिए लोक को समुचित मार्ग पर ले चलने के लिए राजा को सदा उद्यत दण्ड रहना चाहिए[१]।

दण्ड नीति के इस महत्त्व का कथन करने पर भी आचार्य कौटिल्य उन आचार्यों के मत से सहमत नहीं है जो येनकेन प्रकारेण दण्ड देना ही एक मात्र नीति अथवा न्याय मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रजा को यदि बिना विचार किए कठोर दण्ड दिया जाएगा तो वह उद्‌विग्न होगी और यदि मृदुदण्ड दिया जाएगा तो राज्य का परिभव होगा, इसलिए समुचित दण्ड देना ही उचित है और समुचित दण्ड दिए जाने से ही प्रजा धर्म, अर्थ और काम में ठीक से नियोजित रहती है[२]।

---

१. तस्य नीतिः दण्डनीतिः। कौ०अ०, पृ० १५
२. यथार्ह दण्डः पूज्यः। सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति। वही, पृ० १६

कौटिल्य की न्याय व्यवस्था जहां एक ओर प्रजा के लिए है वहीं दूसरी ओर राजकर्मचारियों, व्यवसायियों और दुर्जनों के लिए भी है और सभी को न्याय मिले इसकी व्यवस्था है तथा प्रजा की सुरक्षा सभी से हो, इसका समुचित विचार है। आचार्य ने न्याय के लिए जिस प्रकार की दण्ड की व्यवस्था की है उसमें अर्थदण्ड, शरीर दण्ड और कारागार का दण्ड सम्मिलित है। इस व्यवस्था में जो संकेत किए गए हैं उनके अनुसार दण्ड का पहला सिद्धान्त अपराध पर आधारित है। अर्थात् जिस प्रकार का अपराध है उसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था की गई है। इसके पश्चात् अपराधी का सामर्थ्य कैसा है, वह किस वर्ण का है, उसके अपराध करने की परिस्थिति कैसी है, इस पर भी दण्ड का निर्धारण होता है।

आचार्य कौटिल्य ने अपराध और उससे दिए जाने वाले दण्ड के विषय में यह लिखा है कि जो समाज के व्यक्ति शंकाशील हों वे अर्थात् जिन पर चोर, डाकू, हत्यारा होने का संदेह हो, जिनके बाप-दादों की सम्पत्ति क्षीण होती जा रही हो, जिनको अपने खर्च के लिए पर्याप्त वेतन आदि न मिलता हो, जो अपने देश, नाम, जाति, गोत्र आदि का ठीक-ठीक पता न देते होवें तथा जिनके व्यवसाय की जानकारी भी ठीक प्रकार से न हो वे शंकित पुरुष हैं और उनके विषय में ठीक-ठीक पता करना चाहिए[१]।

इसी तरह से आचार्य ने चोरी के माल का पता करने, चोर की पहचान करने आदि की विधि पर भी पर्याप्त विचार किया है और राजा के लिए समुचित निर्देश दिया है[२]। इस पर एक विद्वान् ने यह टिप्पणी की है कि यह सब उसी प्रकार से है जिस प्रकार आज की पुलिस अपराधी और अपराध का पता करने का प्रयत्न करती है[३]।

---

१. कौ०अ०, पृ० ४४७-४४८
२. वही, पृ० ४४६-४५२
३. कौ०यु०द०, पृ० ८१

अर्थशास्त्र में न्याय की स्थापना के लिए कुछ ऐसे दण्डों का संकेत भी किया गया है जो कबीलाई दण्ड जैसे दण्ड विधान कहे जा सकते हैं। जैसे दण्डित करने के लिए डण्डे मारना, कोड़े लगाना, हाथ-पैर काटना आदि। इन दण्डों को अठारह प्रकार का बताया गया है किन्तु बालक, बृद्ध, रोगी और ब्राह्मण आदि को इससे मुक्त रखा गया है। जो स्त्री गर्भिणी होती थी, सम्भवतः गर्भ का विचार करके उसे भी इस प्रकार के दण्ड से मुक्त रखा जाता था। ब्राह्मण के लिए मृत्यु दण्ड देना वर्जित कहा गया है किन्तु उसके मस्तक पर ऐसा चिन्ह बना देने को कहा गया है जिससे उसका जीवन कलंकित हो जावे[१]।

इन दण्डों के अतिरिक्त अर्थशास्त्र में अर्थदण्ड का भी उल्लेख है। यह तीन प्रकार का होता था। पहले प्रकार के अर्थदण्ड को पूर्व साहस दण्ड कहते थे, जो ४८ से ९६ पण का होता था। दूसरे प्रकार का अर्थदण्ड साहस दण्ड कहा जाता था, जो २०० से ५०० पण का होता था और तीसरे प्रकार का उत्तम साहस दण्ड होता था जो ५०० से १००० पण तक का अर्थदण्ड होता था[२]।

इसी प्रकार से कौटिल्य ने जहाँ कठोर दण्ड की व्यवस्था का संकेत किया है, वहीं पर वन्दीगृह और सुधारगृहों की चर्चा करके कौटिल्य ने यह चाहा है कि दण्ड केवल दण्ड के लिए ही न हो, अपितु उससे सामाजिक व्यवस्था बनी रहे और यदि कोई अपराधी अपना सुधार करने का अवसर चाहता है तो वह भी उसे सुलभ रहे[३]। इस रूप में कौटिल्य का न्याय और उसकी दण्ड व्यवस्था जहाँ राज्य के सुचारु संचालन के उपयुक्त दिखती है, वहीं पर इस व्यवस्था से समाज को धर्म, अर्थ, काम में लगने के लिए प्रेरित भी करती है[४]।

---

१. कौ०यु०द०, पृ० ८२
२. कौ०अ०, पृ० ४०१ से ४०३
३. कौ०यु०द०, पृ० ८२-८३
४. चतुर्वर्णाश्रमो लोको राजा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्यसु।। कौ०अ०, पृ० १७

गुप्तचर

आचार्य कौटिल्य ने गुप्तचरों की नियुक्ति और उनके प्रयोग पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने दो प्रकार के गुप्तचरों की व्यवस्था बताई है। एक गुप्तचर वे हैं जो एक ही स्थान पर रहकर काम करते हैं, उन्हें आचार्य ने 'संस्था' के नाम से कहा है। और दूसरे प्रकार के गुप्तचर वे हैं जो घूम-घूमकर सभी जगह काम करते है। उन्हें 'संचार' के नाम से जाना जाता है[१]।

कौटिल्य ने संस्था गुप्तचरों का विभाग करते हुए इन्हें कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहिक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी के रूप में कहा है। जो दूसरों के रहस्य जानने वाला, दबंग, विद्यार्थी के वेशभूषा में रहने वाला होता था, वह कापटिक गुप्तचर कहलाता था। बुद्धिमान् सदाचारी, संन्यासी के वेश में रहने वाला गुप्तचर उदास्थित कहा जाता था। बुद्धिमान्, पवित्र हृदय, गरीब किसान के वेश में रहने वाला वैदेहिक होता था। जीविका के लिए सिर मुड़ाने वाला अथवा जटाधारी तापस गुप्तचर होता था[२]।

इस प्रकार के गुप्तचरों की नियुक्ति राजा करता था और आचार्य कौटिल्य का यह कहना है कि राजा इनको धन और मान देकर सम्मानित करे। ये गुप्तचर राजा के लिए बड़े ही महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि राजा इन्हीं के द्वारा अपने राज्य के निवासियों एवं अपने कर्मचारियों के कार्य व्यवहार को जान लेता है[३]। इस रूप में संस्था नामक गुप्तचरों की नियुक्ति का विधान राजा के द्वारा किए जाने का निर्देश आचार्य कौटिल्य ने दिया है।

---

१. कौ०अ०, पृ० ३६
२. कौ०अ०, पृ० ३५-३७
३. पूजिताश्चार्थमानाभ्यां राज्ञा राजोपजीविनाम्।
जानीयुः शौचमित्येताः पंच संस्थाः प्रकीर्तिताः।। वही, पृ० ३८

आचार्य कौटिल्य ने जो दूसरे प्रकार के गुप्तचरों की नियुक्ति का संकेत किया है, वे भ्रमण करते हुए अपना कार्य करने वाले गुप्तचर थे और उन्हें 'संचरण' गुप्तचर के नाम से कह दिया गया है।

इन गुप्तचरों के भेदों का कथन भी कौटिल्य ने किया है और यह लिखा है कि जो राजा के सम्बन्धी न हों किन्तु जिनका पालन-पोषण राजा के लिए आवश्यक हो तथा जो सामुद्रिक आदि विद्याओं को जानते हों और नाचने-गाने की कला में निपुण होवें वे सत्री गुप्तचर कहे जाते हैं। इसी प्रकार अपने देश में रहने वाले और निर्भीक जो समय आने पर बाघ तथा सर्पादि से भिड़ने का साहस रखते हैं, वे तीक्ष्ण गुप्तचर कहे जाते हैं। इसी प्रकार जो अपने भाई-बन्धुओं से भी स्नेह रखने वाले नहीं हैं तथा क्रूर स्वभाव वाले और आलसी हैं, वे 'रसद' गुप्तचर के नाम से जाने जाते हैं[1]।

इसी प्रकार से जो कोई स्त्री आजीविका की इच्छुक हो, दरिद्र, प्रौढ़, विधवा, दबंग, रनिवास में सम्मानित, प्रधान अमात्यों के घर में प्रवेश पाने वाली परिव्राजिका कही जाती है। कौटिल्य इसी प्रकार से यह भी लिखते हैं कि मुण्डा अर्थात् मुण्डित भिक्षुकी और शूद्रा अर्थात् वृषली गुप्तचरी को भी इसी रूप से जान लेना चाहिए[2]।

इस रूप में ये सभी के सभी संचारी गुप्तचर हैं जो घूम-घूमकर राजा के लिए कार्य करते हैं। यहाँ पर यह भी दिखाई देता है कि गुप्तचर के पद पर केवल पुरुष ही नहीं होते थे अपितु गुप्तचरी का कार्य करने के लिए स्त्रियाँ भी तब नियोजित होती थीं।

---

१. कौ०अ०, पृ० ३९

२. परिव्राजिका वृत्तिकामा दरिद्रा विधवा प्रगल्भा ब्राह्मण्यन्तःपुरे कृतसत्कारा महामात्यकुलान्यधिगच्छेत। एतया मुण्डया वृषल्यो व्याख्याताः। वही, पृ० ४०

आचार्य कौटिल्य के समय सम्भवत: राजाओं द्वारा गुप्तचरों की नियुक्ति की यह परम्परा प्रचलित थी और राजागण अपने पक्ष के तथा पर पक्ष के कार्य व्यवहार को जानने के लिए गुप्तचरों का प्रयोग करते थे। अजातशत्रु ने जब अपना विजय अभियान पूरा किया था तब उसके गुप्तचरों ने लगभग शत्रु पक्ष में मतभेद उत्पन्न किए थे, जिससे अजातशत्रु विजयी हो सका था[१]।

पाश्चात्य इतिहासकार भी उस समय के गुप्तचरों के प्रयोग पर अपने संकेत देते हैं। एक विद्वान् ने एफोरी **(APHORI)** शब्द का प्रयोग किया है जो सम्भवत: अपने राजा के राज्य की पूरी गतिविधियों पर निगाह रखते थे और राजा के अनुकूल एवं प्रतिकूल होने वाली परिस्थितियों की सूचना देते थे। यही कारण है कि राजा ऐसे पदों पर उन लोगों को नियुक्त करता था जो राजा के लिए बहुत ही विश्वसनीय होते थे और राज्य के लिए उपयोगी होते थे[२]। एक विद्वान् यह लिखते हैं कि आचार्य कौटिल्य ने 'प्रदेष्ट्र' शब्द का जो प्रयोग किया है वह सूचना देने वाले अथवा संकेत करने वाले के लिए हो सकता है और यह एरियन के गुप्तचर और स्ट्रैबो के इन्स्पेक्टर जैसा ही हो[३]।

वर्तमान समय में यद्यपि राजतन्त्र नहीं है किन्तु देश तथा विदेश की स्थिति शासन को ज्ञात रहे इसके लिए 'रा' आदि ऐसी एजेसिंयाँ हैं जो एक प्रकार से गुप्तचरी का काम करती हैं। कुछ देशों के दूतावासों के माध्यम से भी यही काम होता है।

---

१. भा०सै०इ०, पृ० २४१
२. **H.F., P. 103**
३. **J.R.A.S. (1915), P. 17**

गुप्तचरों का प्रयोग

आचार्य कौटिल्य ने यह संकेत किया है कि राजा को चाहिए कि वह अपने देश की स्थितियों और परराष्ट्र की स्थितियों का ज्ञान करने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति आवश्यक रूप से करे। वह एक ओर अपने अधीन राज्य की सभी सूचनाओं का संकलन करता रहे और दूसरी ओर दूसरे राज्य से भी होने वाली गतिविधियों के प्रति सचेष्ट रहे, इसके लिए गुप्तचर ही सबसे श्रेष्ठ माध्यम होते थे और आरम्भिक काल से गुप्तचरों के प्रयोग की परम्परा रही है।

गुप्तचरों का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक तथा प्रभावशाली था। वे शत्रुओं की गतिविधियों का पता करते थे। उसके पास कितनी साधन-सम्पन्नता है, इसकी भी जानकारी रखते थे।

आचार्य कौटिल्य ने शत्रु देश में गुप्तचर की नियुक्ति के विषय में यह लिखा है कि विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिए कि वह अपने अत्यन्त विश्वसनीय गुप्तचर को अपने राज्य से निकाल दे। वह शत्रु के यहाँ जाकर उसका विश्वास प्राप्त करे और वहां युद्धोपयोगी वस्तुओं का संकलन करे[१]।

जो गुप्तचर शत्रु राजाओं के यहाँ जावें वे अनेक रूपों में वहां रहें और भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों से मित्रता करें। फिर, वे वहाँ तरह-तरह के विभ्रम फैलावें और जैसे भी हो अपने स्वामी के हित का सम्पादन करने का कार्य करें[२]। वे चोरों के कार्यों का भी अवलम्बन लेवें और उनके कार्यों से भी राजा के कार्य-साधन में सहयोगी बनें।

---

१. श्रेणीमुख्यमाप्तं निष्पातयेत्। स परमाश्रित्य पक्षापदेशेन स्वविषयात् साचिव्यकरणसहायोपादानं कुर्वीत। कौ०अ०, पृ० ८७६

२. वही, पृ० ८८४

गुप्तचरों के प्रयोग के सम्बन्ध में कौटिल्य जहाँ दूसरे राजाओं के इतिवृत्त को जानने के लिए उनका प्रयोग करने को कहते हैं वहीं वे अपने राज्य में प्रजा के व्यवहार को जानने के लिए भी गुप्तचरों के प्रयोग का विधान करते हैं। 'संस्था' नामक जो गुप्तचर होते थे, वे अपने स्थान में रहकर अथवा अपने ही राज्य में रहकर प्रजा तथा अन्य लोगों के कार्य व्यवहार को देखते थे और जब जैसी स्थिति होती थी, वैसा व्यवहार करते थे। सत्री नामक गुप्तचर प्रजा में विविध प्रकार की बातें कहकर यही देखते थे कि कौन किस प्रकार का व्यवहार कर रहा है[१]।

राज्य का कार्य देखने के लिए समाहर्ता को यह कहा गया है कि वह गुप्त और षड़यन्त्र कारी कार्यों को जानने के लिए सिद्ध, तपस्वी, संन्यासी, ज्योतिषी, गूंगें, बहरे, हलवाई, रसोइया आदि के रूप में गुप्तचर नियुक्त करे। वे गुप्तचर समाज के ईमानदार और बेईमान लोगों का पता लगावें और उसकी सूचना न्यायाधीशों को समय से देवें[२]।

कौटिल्य ने इन गुप्तचरों के महत्त्व को इस रूप में भी रेखांकित किया है जिसमें उन्होंने लिखा है कि राजा मन्त्री, महामन्त्री, पुरोहित आदि के पास भी गुप्तचर नियुक्त करे और फिर अपनी प्रजा के अनुराग और द्वेष को भी इन्हीं गुप्तचरों के द्वारा जाने[३]।

इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि आचार्य कौटिल्य के मत से अपने राज्य की स्थिति जानने के लिए और शत्रु की स्थिति जानने के लिए राजा के द्वारा गुप्तचरों की नियुक्ति करना आवश्यक है और उनसे ही राजा सभी कुछ जानकर समयानुसार शासन चला सकता है।

---

१. कौ०अ०, पृ० ४४१-४४२
२. वही, पृ० ४४०
३. कृतममहामात्यापसर्पः पौरजानपदानपसर्पयेत्। वही, पृ० ४४

राजा के परराष्ट्र सम्बन्धी नियम

प्राचीन भारत में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि प्राचीन पौराणिक काल के पूर्व से ही भारत के संबंध अन्य राष्ट्रों के साथ थे। मत्स्य पुराण में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। वहाँ पर जिन देशों के साथ सम्बन्ध होना बताया गया है उनमें पश्चिमी एशिया, रोम, मध्य एशिया, चीन और पूर्वी द्वीप समूहों का उल्लेख है[१]।

कौटिल्य के समय में चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर अशोक तक के सम्बन्ध वैदेशिक राष्ट्रों से थे। जिस समय चन्द्रगुप्त मौर्य सिंहासनारूढ़ हुआ था उस समय सिकन्दर महान का सेनापति सेल्युकस भी अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा था। पहले तो सेल्युकस ने सिन्ध पार करके भारत के तत्कालीन सम्राट् चन्द्रगुप्त से युद्ध किया किन्तु बाद में चन्द्रगुप्त और सेल्युकस में मित्रता हुई जिसके फलस्वरूप सेल्यूकस ने ईरानी राज्य के अन्तर्गत आने वाले कुछ भूभाग, जिन्होंने उसे अपने अधिकार में कर लिया था, चन्द्रगुप्त को दिया[२]।

अशोक के सम्बन्ध में यह तथ्य बहुविदित है कि उन्होंने स्वयम् तो विदेश में धर्म प्रचार का प्रवर्तन किया ही, अनेक प्रचारक और उपदेशक भी बाहर भेजे। उनका सम्बन्ध केवल दक्षिण के तमिलों तक ही सीमित नहीं था अपितु यूनानी नरेशों से भी उनके सम्बन्ध थे। उन्होंने अपने पुत्र महेन्द्र को तो परराष्ट्र सम्बन्धों के लिए और धर्म प्रचार के लिए समर्पित कर दिया[३]। इस रूप में तब परराष्ट्र सम्बन्ध प्रमुखता से देखे जा सकते हैं।

---

१. म०पु० १२३/३५; १४४/३६-५५; १२०/७१
२. H.F., P. 78-125
३. कौ०यु०द०, पृ० ६०-६१

राजा की परराष्ट्र सम्बन्धी नीति, जिसे विदेश की नीति अथवा विदेश नीति भी कह सकते हैं के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् यह लिखते हैं कि विदेश नीति उन क्रिया कलापोंका समुच्चय है जो किसी समुदाय ने अन्य राज्यों का व्यवहार बदलने के लिए और अपने क्रिया-कलाप को अन्ताराष्ट्रिय परिस्थिति के साथ समायोजित करने के लिए विकसित किया हो[१]। इनकी दृष्टि से विदेश नीति का पहला काम यह है कि वह उन तरीकों पर प्रकाश डाले जिससे एक राज्य अन्य राज्य का व्यवहार बदलने का प्रयत्न करता है[२]। एक अन्य विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि किसी राज्य के साथ कोई भी सम्बन्ध न रखना भी एक प्रकार की पर राष्ट्र नीति ही है[३]।

एक मत इस प्रकार का व्यक्त किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि विदेश नीति कुछ हितों और उद्देश्यों के आधार पर ही कार्य कर सकती है। इसलिए इसके अन्तर्गत नीति निर्माता, हित और उद्देश्य, विदेश नीति के सिद्धान्त तथा इस नीति के साधन आते हैं। इस दृष्टिकोण को सामने रखकर एक भारतीय विद्वान् यह लिखते हैं कि राष्ट्रिय हित की विचारधारा से निर्धारित विदेशी सम्बन्धों में उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनाया सुविचारित कार्यक्रम ही विदेश नीति है[४]। अर्थात् वही विदेश नीति सही सन्दर्भों में विदेश नीति है जो अपने राष्ट्र के हित साधन में समर्थ हो और जिसका एक उद्देश्य हो।

---

१. T.F.R., P, .03
२. वही, पृ० ६-७
३. वही, पृ० ७
४. कौ० यु०द०, पृ० ६२

आचार्य कौटिल्य ने परराष्ट्र नीति के सम्बन्ध में जो संकेत किया है उसके अनुसार वे परराष्ट्र सम्बन्ध रखने के लिए छह प्रकार के गुणों का उल्लेख करते हैं। ये छह हैं-सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव[1]। इनमें से एक आचार्य का मत देते हुए यह लिखा गया है कि ये गुण तो दो ही हैं सन्धि और विग्रह। शेष इन्हीं के अवान्तर भेद हैं। किन्तु आचार्य कौटिल्य का यह कथन है कि गुण छह ही समझना चाहिए क्योंकि सन्धि और विग्रह से भिन्न ही चार गुण और हैं। इसलिए सन्धि और विग्रह में अन्यों का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

इन छह गुणों की व्याख्या करते हुए आचार्य कौटिल्य ने यह लिखा है कि राजाओं के बीच किसी प्रकार से कुछ शर्तों का निर्धारण होकर मेल हो जाना सन्धि कहलाता है। शत्रु को निर्बल करने के लिए उसका किसी प्रकार से अपकार करना विग्रह है। राजा की उपेक्षा करना आसन है। इसी प्रकार से युद्ध के लिए तत्पर होकर उसके ऊपर चढ़ाई करना यान है। जब अपना पक्ष न चले और शत्रु के समक्ष समर्पण करना पड़े तो संश्रय है और सन्धि तथा समर्पण करना पड़े तो संश्रय है और सन्धि विग्रह दोनों का ही प्रयोग करके अपना कार्य चलाना द्वैधी भाव है[2]।

राजा तब के समय में इन्हीं छह गुणों का समयानुसार प्रयोग करके दूसरे पक्ष के राजा के साथ व्यवहार करता था और इसी से वह अपनी परराष्ट्र सम्बन्धी नीति निर्धारित करता था।

---

१. सन्धिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाःषाडगुणमित्याचार्याः। कौ०अ०, पृ० ५४६

२. तत्र पणबन्धः सन्धिः अपकारो विग्रहः, उपेक्षणमासनम् अभ्युच्चयो यानम्, परार्पणं संश्रयः, सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः। वही, पृ० ५४६

साम, दाम, दण्ड और नीति का प्रयोग

यद्यपि आचार्य कौटिल्य ने अपनी पर राष्ट्र नीति का कार्यान्वयन करने के लिए षड्गुणात्मक सिद्धान्त का इंगन किया है और संकेत रूप में हम उसे पहले देख भी चुके हैं किन्तु इसी के साथ-साथ प्राचीन समय से ही साम, दाम, दण्ड और भेद नीति के द्वारा भी शत्रु और मित्र राजाओं के साथ सम्बन्धों का निर्धारण तब होता था।

इस सम्बन्ध में आचार्य यह लिखते हैं कि जब समझा बुझाकर तथा बात चीत करके अन्य राजाओं के साथ व्यवहार का निर्धारण किया जाता था, तो वह साम नीति होती थी। यह सत्य और असत्य रूप से दो प्रकार की कही गई है। सत्य साम नीति वह होती थी जिसमें मित्र राजा के साथ व्यवहार किया जाता था और उसमें असत्यता तथा छल-प्रपञ्च का कोई आधार नहीं लिया जाता था। असत्य साम का प्रयोग शत्रु अथवा धूर्त राजाओं के साथ किया जाता था[१]।

दाम नीति के प्रयोग के सम्बन्ध में यह लिखा है कि जब समझाने-बुझाने से काम न चले और किसी राजा का दूसरे राजा के साथ व्यवहार न बन रहा हो तो फिर दाम नीति का प्रयोग करना चाहिए। इस नीति का सीधा सा सिद्धान्त है किसी प्रकार से कुछ ले देकर शत्रु राजा को अपने पक्ष में करना अथवा अपने मित्र राजा को भी सदा अपना मित्र बनाए रखना। आचार्य कौटिल्य दाम नीति को इसलिए भी महत्वपूर्ण रूप से कहते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि इसके प्रयोग से अविश्वासी सामन्तों और छोटे राजाओं को भी वश में किया जा सकता है[२]।

---

१. कौ०अ० ७/१२१/१६

२. हिरण्ययोगं मित्रं श्रेयः। नित्यो हिरण्येन योगः कदाचित् दण्डेन दण्डश्च हिरण्येनान्येन च कामाः प्राप्यन्त इति। वही, पृ० ६०६

भेद नीति का अभिप्राय यह है कि किसी युक्ति से जो शत्रु संघटित है, उसके बीच में किसी उपाय से फूट डलवा दी जाए। इससे शत्रु कमजोर हो जाता है और राजा को शासन करने में सुविधा रहती है। यदि भेद नीति सफल रहती है तो राजा अपने शत्रु को थोड़े बल से ही परास्त कर सकता है। आचार्य कौटिल्य इस सन्दर्भ में यह लिखते हैं कि जो राजा अपने शत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहता है उसे चाहिए कि वह सामन्त, आटविक, शत्रु राजा का सम्बन्धी, शत्रु राजा का पुत्र आदि को अपने वश में करके उसके द्वारा कोष, सेना, भूमि आदि के बीच भेद डलवा सकता है[1]। और इस प्रकार इस नीति से अपने शत्रु राजा को वश में कर सकता है अथवा उस पर विजय प्राप्त कर सकता है[1]।

इसी प्रकार से आचार्य कौटिल्य ने दण्डनीति पर भी अपना मत व्यक्त किया है और कहा है कि येन केन प्रकारेण शत्रु का दमन करना ही दण्डनीति है। यदि शत्रु राजा साम, दाम, भेद नीति से वश में न आवे तो उसे दण्ड देकर ही अपने वश में करना चाहिए। दण्ड का प्रयोग शक्तिशाली राजा के विरुद्ध करने का संकेत भी आचार्य कौटिल्य ने किया है कि राजा प्रकाश युद्ध, कूट युद्ध तथा तूष्णी युद्ध के द्वारा जैसे भी हो शत्रु को दण्डित कर अपने वश में करे। कौटिल्य लिखते हैं कि दुर्बल राजाओं को शान्ति अथवा धन देकर अपने वश में करना चाहिए और अपने से बलवान राजा पर भेद तथा दण्ड नीति के द्वारा विजय प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए[2]।

---

१. सामन्ताटविकतत्कुलीनावरुद्धानामन्यतमोपग्रहणेन कोशदण्डभूमिदाययाचमिति भेदमाचरेत्।
कौ०अ०, पृ०६५२

२. सामदानाभ्यां दुर्बलानुपनमयेद्, भेददण्डाभ्यां बलवतः। वही, पृ० ६५१

शत्रु राजा पर आक्रमण

भारतीय परम्परा यदि प्राचीन काल में आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पक्ष की समुज्ज्वलता से आलोकित है तो इसका आधिभौतिक पक्ष युद्ध में प्रवृत्त रहने वाले वीरों की गाथाओं से प्रभावित है। मानव प्राणी का विकास प्रकृति से हुआ और अपने को जीवित रखने के लिए युद्ध करना पड़ा। युद्ध मनुष्य के जीवन का सबसे चिन्तनीय दर्शन है और हमारे साहित्य के उज्ज्वल ग्रन्थमणि भी इसका यशोगान करते हैं। वाल्मीकि का आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण और व्यास का महाभारत तो युद्ध की गाथा के ही काव्य हैं और श्रीकृष्ण के द्वारा उपदेशित गीता अर्जुन के लिए युद्ध की प्रेरणा देने वाला काव्य है।

इसीलिए मनु युद्ध के औचित्य को सिद्ध करते हैं और याज्ञवल्क्य शहीदों को योगियों से बढ़कर बताते हैं। श्रीकृष्ण युद्ध में वीरगति पाने वाले वीरों के लिए स्वर्ग का द्वार खुला हुआ कहते हैं[१]।

कौटिल्य युद्ध की अपरिहार्यता को इसलिए स्वीकार करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि से विजय की इच्छा रखने वाले राजा के लिए जहाँ एक ओर युद्ध करना अपरिहार्य है वहीं दूसरी अपने राज्य की रक्षा करने के लिए और शत्रु से अपने बचाव के लिए भी राजा को युद्ध करना आवश्यक है।

महर्षि मनु ने यह लिखा है कि विजय प्राप्त करने की इच्छा वाला राजा अपने राज्य को समूह और सेना को जब बलवान देखे और शत्रु की स्थिति इसके विपरीत देखे तो वह उस पर बेहिचक आक्रमण कर देवे[२]। इस सिद्धान्त को एक विद्वान् मण्डल सिद्धान्त कहते हैं और इसे वे एक प्रमुख सिद्धान्त मानते हैं[३]।

---

१. यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।। भ०गी० २/३२; म०स्मृ० ७/२००

२. म०स्मृ० ७/१७१

३. कौ०यु०द०, पृ० १०७

मण्डल सिद्धान्त के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मतों का सन्दर्भ दिया है। किसी एक विद्वान् ने यह माना है कि यह सिद्धान्त ५०० वर्ष ई०पू० में परिचित हो चुका था और उत्तर भारत के राज्यों में चले उस संघर्ष का यह सिद्धान्त परक निष्कर्ष है जिसके परिणाम में मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई[१]। एक दूसरे विद्वान् ने यह विचार व्यक्त किया है कि शक्ति सन्तुलन का आधार मण्डल सिद्धान्त ही है। अन्तरराष्ट्रिय सम्बन्धों के विषय में सभी विचार शक्ति संतुलन के विचार से मिलते हैं[२]। आचार्य कौटिल्य का भी यही मत है कि प्रत्येक राजा की यह महत्त्वाकांक्षा होती है कि वह अपनी जनता के लिए शक्ति और सुख अर्जित करे।

कौटिल्य युद्ध की नीति में विग्रह करने का निर्देश करते हुए यह लिखते हैं कि जब भिन्न-भिन्न राजाओं के बीच द्रोह, वैर, वैमनस्य की स्थिति होती है, तब वह विग्रह की स्थिति होती है। तब राजा अपने शत्रु राजा की जनता व अधिकारियों में तोड़-फोड़ अथवा भेद की भावना भर करके असत्य प्रचार के द्वारा उसे आक्रमण का भय दिखावे और इस प्रकार राजा अपने राज्य की शक्ति में अभिवर्धन करे। आचार्य कौटिल्य तो यह कहते हैं कि विजुगीष राजा यदि यह समझे कि शत्रु राजा की अपेक्षा वह बलवान है तो उसे विग्रह कर देना चाहिए। आचार्य कहते हैं कि विजय की कामना वाला राजा यदि यह देख ले कि मेरे देश में पहाड़, जंगल, नदी और किले बहुत हैं, मेरे राज्य में आने-जाने के लिए मार्ग भी एक ही है। शत्रु का प्रतिकार करने में मेरा देश सक्षम है और अब मैंने अमेद्य दुर्ग का आश्रय ले लिया है

---

१. P.T.A.I, P. 156

२. P.I.T.H, P. 215-216

तथा शत्रु के विनाश का समय समीप आ पहुँचा है और मैं शत्रु के जनपद को किसी दूसरे रास्ते से पार कर लूँगा- तब वह अपनी उन्नति के लिए शत्रु राजा से विग्रह करने में संकोच न करे[1]।

इसी प्रकार युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर आक्रमण करने के समय का निर्देश करते हुए आचार्य कौटिल्य यह लिखते हैं कि जब विजय प्राप्त करने की अभिलाषा वाला राजा यह समझे कि शत्रु के दुर्ग और जनपद का विनाश एक मात्र चढ़ाई करने से ही होगा, तो उसे बिना विलम्ब किए शत्रु राजा पर आक्रमण कर देना चाहिए[2]।

आचार्य कौटिल्य ने विजय नीति की सफलता की दृष्टि से यह लिखा है कि जब राजा देख ले कि शत्रु व्यसनों में फँसा है, उसकी प्रकृतियाँ भी व्यसनों में उलझी हुई हैं उसकी अपनी सेना के दुर्व्यवहार से उसकी प्रजा ही उससे विमुख हो गई है, राजा में उत्साह नहीं हैं, प्रकृति मण्डल में परस्पर कलह है, प्रकृति मण्डल के सदस्यों को किसी न किसी प्रकार के लोभ देकर फोड़ा जा सकता है, शत्रु, अग्नि, जल, व्याधि, संक्रामक रोगों के कारण वह अपने वाहन, कर्मचारियों और कोष की रक्षा करने में सक्षम नहीं है, तब ऐसी स्थिति में विजय की कामना करने वाले राजा को युद्ध के लिए तैयार होकर शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिए[3]।

आचार्य कौटिल्य ने दूसरे राजा पर आक्रमण के लिए तैयार होने के साथ यह भी निर्देश किया है कि यदि विजय प्राप्ति का इच्छुक राजा यह देखे कि वह अकेले ही शत्रु पर आक्रमण करके उसे जीत नहीं सकता तो ऐसी स्थिति में वह अपने से अधिक सामर्थ्य वाले राजा का आश्रय

---

१. यदि वा पश्येत्- आयुधीप्रायः श्रेणीप्रायो वा मे जनपदः शैलवननदी दुर्गैकद्वारारक्षो वा शक्ष्यति पराभियोगं प्रतिहन्तुमिति............। कौ०अ०, पृ० ५५३

२. वही, पृ० ५५४

३. वही, पृ० ५७०

लेकर शत्रु पर आक्रमण कर सकता है। यदि उसे और अधिक शक्ति-संचय की आवश्यकता हो तो वह अपने से हीन शक्ति वाले राजा का सहयोग भी शत्रु को पराजित करने के लिए ले सकता है। वे यह लिखते हैं कि राजा यदि एक देश पर ही आक्रमण करता है और कई सहयोगी राजा उस आक्रमण में सहयोग कर रहे है तो विजय की अवस्था में किसे क्या मिलेगा-इसका भी निश्चय पूर्व से ही कर लेना चाहिए। अन्यथा विजय के पश्चात् सहयोगियों में परस्पर विवाद हो सकता है। आचार्य कौटिल्य का यह मत है कि यदि अनेक देशों पर आक्रमण करना हो तो फिर बिना हिस्से का निर्धारण किए ही आक्रमण किया जा सकता है[१]।

आचार्य का यह भी मत है कि युद्ध करने में यदि राजा साथ न जाना चाहें तो उनका कुछ हिस्सा निश्चित करके उनसे उनकी सेना मांग ले अथवा उन राजाओं से यह कहे कि समय पर यदि तुम मेरी सहायता करोगे तो समय आने पर मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। बाद में विजय प्राप्त होने पर भूमि मिले तो उसका हिस्सा पहले से ही निश्चित करें और अन्य सामान मिलने पर उनका हिस्सा पहले से ही दे देवे[२]।

इस रूप में कौटिल्य की दृष्टि से अपने राज्य की रक्षा करने के उद्देश्य से, अपना राज्य बढ़ाने के उद्देश्य से और पृथिवी पर अधिक से अधिक अपना शासन स्थापित करने के लिए राजा को अन्य राजाओं पर आक्रमण करने का अधिकार था। आज की परम्परा में यद्यपि ऐसा नहीं हो रहा किन्तु एक दूसरे राष्ट्र की सेनाएँ परस्पर सहयोग करके युद्ध करती हुई आज भी देखी जाती हैं।

---

१. कौ०अ०, पृ० ५७१
२. तेषामसमवाये दण्डमन्यतरस्मिन् निविष्टांशेन संभूयामिगमनेन वा निर्विश्येत्। ध्रुवे लाभे निर्दिष्टार्शेनाध्रुवे लाभे लाभांशेन। वही, पृ० ५७१

पराजित राज्य की प्रजा के प्रति व्यवहार

आचार्य कौटिल्य ने विजय प्राप्तकर चुके और विजित राजा के बीच का जो व्यवहार लिखा है उसके अनुसार कौटिल्य यह कहते हैं कि यदि विजय प्राप्त होने के बाद विजित राजा विजयी राजा के साथ ढंग से व्यवहार करता हैं तो उसके साथ ऐसा व्यवहार किया जाए जिससे उसकी किसी प्रकार की हानि न होवे किन्तु यदि विजित राजा उदण्डता का प्रदर्शन करे तो उसके साथ कठोरता का व्यवहार किया जाए[१]।

आचार्य कौटिल्य शत्रु राजा के साथ कठोरता का व्यवहार किए जाने का विधान करते हुए भी सदाशयता में भी कम नहीं हैं। वे यह लिखते हैं कि जो भी विजित राजा विजयी राजा के साथ सज्जनता का व्यवहार करे विजयी राजा को चाहिए कि वह विजित राजा के साथ इस प्रकार का अनुग्रह करे जैसे कोई अपने पुत्र के साथ अनुग्रह पूर्वक व्यवहार करता है। यदि कोई राजा विजयी राजा के साथ अभद्रता का व्यवहार भी करता है तो भी विजयी राजा को चाहिए कि वह दण्डित राजा की भूमि, द्रव्य, पुत्र, स्त्री आदि का अपहरण न करे[२]। किन्तु उनको और उनके सम्बन्धियों को भी यथोचित स्थान पर नियोजित करे। कौटिल्य लिखते हैं कि किसी राजा को वश में करते समय यदि उसकी मृत्यु हो जावे तो उसके पुत्र को उस राज्य का अधिकारी बना देना चाहिए[३]।

इस सम्बन्ध में कौटिल्य का यह कहना है कि जो भी कोई राजा विजित राजा और उसके पुत्र-पुत्रियों आदि के प्रति दुर्व्यवहार अथवा कठोरता का आचरण करता है तो उसे विजित राजा और उसकी प्रजा की ओर से प्रतिक्रिया भोगनी पड़ती है[४]।

---

१. उपकारिणामुपकारशक्त्या तोषयेत्। कौ०अ०, पृ० ६५४
२. कौ०अ०, पृ० ६५५
३. कर्मणि मृतस्य पुत्रं राज्ये स्थापयेत्। वही, ७/१२१/१६
४. वही, पृ० ६५६

आचार्य कौटिल्य का यह अभिमत है कि जो राजा अपने शत्रु पर आक्रमण करके उस पर विजय प्राप्त कर ले वह उसके दुर्गुणों को अपने गुणों से ढक लेवे। विजयी राजा को चाहिए कि वह विजित राजा की प्रजा के प्रति अपने धर्म, कर्म, अनुग्रह, कर माफी आदि से अनुकूल कार्य करता रहे। वह शत्रु राजा की प्रजा के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करे जिस प्रकार से अपनी प्रजा के साथ व्यवहार करता है। वह अपनी प्रजा की ही तरह शील, वेष, भाषा तथा आचरण आदि से उसकी प्रजा को जीतने का प्रयत्न करे[१]।

जिस राजा ने विजय प्राप्त कर ली है, उसे चाहिए कि वह प्रजा के साथ समान और शालीन व्यवहार करे तथा सभी धर्मों, देवताओं और आश्रमों की पूजा कराए। इसके साथ ही वह वहाँ के विद्वानों, वक्ताओं, धर्मप्रवण व्यक्तियों को भूमि तथा धन आदि देकर उनसे किसी प्रकार का कर न वसूल करे। जो दीन-हीन, अनाथ हैं तथा व्याधिग्रस्त हैं उनसे किसी प्रकार का कर न लेवे और हर तरह से उनकी सहायता करे। उस राज्य में जो कारागार में बन्द होकर दण्ड भोग रहे हों, उन्हें भी मुक्त कर देवे[२]।

इसी प्रकार से कौटिल्य का यह भी अभिमत है कि विजयी राजा विजित राज्य में उस धर्म युक्त आचार-व्यवहार का प्रचलन करे जिनका प्रचलन अभी तक वहाँ था। जो पहले से वहाँ धर्म प्रवृत्त लोग हों, उनको प्रोत्साहित करे। जो अधर्म-प्रवृत्ति के हों उनको किसी भी रूप में न बढ़ने दे और उनकी समाप्ति के लिए यदि बल प्रयोग की भी आवश्यकता हो, तो उसके प्रयोग में भी संकोच न करे[३]।

---

१. तस्मात् समानशीलवेषभाषाचारतामुपगच्छेत्। कौ०अ०, पृ० ८९७
२. सर्वदेवताश्रमपूजनं च विद्यावाक्यधर्मशूरपुरुषाणां च भूमिद्रव्यदानपरिहारान् कारयेत्। वही, ८९७
३. वही, पृ० ८९९-९००

सन्धि और सन्धि-नियम

आचार्य कौटिल्य ने राजा के लिए छह गुणों का कथन किया है। इनमें से एक गुण सन्धि कहा गया है। सन्धि का अभिप्राय है व्यवस्था अथवा ऐक्य स्थापित करना। वे लिखते हैं कि जो राजा अपने पड़ोसी राजा से हीन हो उसे सन्धि कर लेनी चाहिए। वे यह निर्देश करते हैं कि दुर्बल राजा पर यदि सबल राजा आक्रमण कर दे तो पहले को तुरन्त झुक जाना चाहिए और अपनी सेना, कोश, राज्य और स्वयम् को उसे सौंप देना चाहिए।सेना उसके अधीन कर देने पर सन्धि तीन तरह की होती है। इन तीन प्रकार की सन्धियों में जब अपनी सेना की उत्तम टोली लेकर स्वयं उपस्थित होवे तब आत्मामिष सन्धि कही जाती है। जब राजा स्वयम् न जाकर अपने अमात्य अथवा सेनापति को भेजता है तब आत्मरक्षण नामक सन्धि होती है। और इसी प्रकार जिसमें यह तय पाया जाए कि कोई भी राजा की ओर से या स्वयं राजा आक्रामक की इच्छानुसार कहीं भी सेना लेकर जावे, तो वह अदृष्ट पुरुष सन्धि होती है। इसे दण्डमुख्यात्मरक्षण सन्धि भी कहते हैं[१]।

इसमें भी कौटिल्य इनके लक्षणों का और अधिक विस्तार करते हैं तथा जिसमें सेना के साथ सन्धि होती है वह दण्डप्रणत, जो कोश के लिए होती है, वह परिक्रय आदि रूप में सन्धियाँ कही गई हैं।

आचार्य कामन्दक का इस सन्दर्भ में यह कथन है कि केवल उपहार देना ही सन्धि है। हाँ, मित्र सन्धि उपहार के अन्तर्गत नहीं आती। वे मैत्र, परस्परोपकार, सम्बन्धज और उपहार नामकी और सन्धियों का उल्लेख करते हैं [२]। इस प्रकार से कौटिल्य की ही तरह से आचार्य कामन्दक भी सन्धियों पर पर्याप्त विचार करते हैं।

---

१. एकेनान्यत्र यातव्यं स्वयं दण्डेन वेत्ययम्।
अदृष्टपुरुषः सन्धिर्दण्डमुख्यात्मरक्षणः।। कौ०अ०, पृ० ५६३

२. का०नी० ९/२१-२२; ९/२०

बलवान राजा के साथ जब निर्बल राजा सन्धि करता है तो उसे स्वाभाविक रूप से विजयी राजा को सेना, कोष, भूमि आदि देकर ही सन्धि करनी पड़ती है। इसलिए राजा को दण्डोपनत, कोषोपनत, देशोपनत प्रकार की सन्धि करके अपने कार्य तथा देश का विचार करना चाहिए[1]।

इस प्रकार की सन्धियाँ महाभारत और रामायण काल में भी की जाती थीं, ऐसे संकेत अनेकों स्थानों पर उपलब्ध हैं। विभीषण जब अपने भाई रावण से त्रस्त होकर आया तो उसने श्रीराम के समक्ष स्वयं को प्रस्तुत कर दिया। यद्यपि तब सन्धि की शर्तें खोली नहीं गईं किन्तु श्रीराम ने उसे राज्य देने का वचन दिया। एक विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि इसमें श्रीराम की शरणागति की विशेषता और विभीषण की निस्वार्थ भावना ही छिपी हुई थी। इसलिए विभीषण एक विश्वस्त मित्र सिद्ध होता है[2]।

आचार्य कौटिल्य ने इस पर विचार करते हुए मित्र सन्धियों पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि जब दो मित्र राजा यह कहें कि तुम और हम दोनों मिलकर मित्र को लाभ पहुँचावें, तब इसे समसन्धि कहते हैं। इसमें एक को मित्रलाभ और दूसरे को हिरण्य अथवा भूमिलाभ मिलने की बात कही जाती है। इस सन्धि में यदि पूर्व निश्चित लाभ से अधिक लाभ हो तो वह अति सन्धि कहलाती है[3]।

इसी प्रकार की एक और सन्धि का वर्णन कौटिल्य इस रूप में करते हैं जब वे यह कहते हैं कि जहाँ दो राजा यह विचार करते हैं कि तुम और हम मिलकर भूमि प्राप्त करें- तब इस प्रकार की सन्धि को भूमि सन्धि

---

१. स्वकार्याणां वशेनैते देशे काले च भाषितः।
आबलीयसिकाः कार्यास्त्रिविधाः हीनसन्धयः।। कौ०अ०, पृ० ५६६

२. He should appear a man of compassion, a man of good faith, a man of integrity, a kind and a religious man. The Prince, P. 102 ; वा०रा०रा०वि०, पृ० २०२

३. कौ०अ०, पृ० ६०३

कहते हैं। इसमें जो भी गुणी भृत्यों तथा धन से भूमि प्राप्त करता है, वह विशेष लाभ में रहता है। ऐसे ही जब विजित और विजयी राजा मिलकर यह निश्चय करते हैं कि तुम और हम मिलकर खाली भूमि में उपनिवेश बसाएँ, तब उसे अनवसित सन्धि कहते हैं। उन दोनों में जो पूर्ण साधनों को लेकर गुण सम्पन्न भूमि में उपनिवेश बसाता है, वही सर्वाधिक लाभ में रहता है[२]।

इसी प्रकार की एक सन्धि का कथन भी कौटिल्य ने किया है और लिखा है कि जो दो राजा मिल जुल कर यह निर्णय करते हैं कि हम और तुम मिलकर दुर्ग बनावें और ऐसा करते हैं तो वे कर्म सन्धि करते हैं[३]।

सन्धियों के विषय में आचार्य कौटिल्य यह लिखते हैं कि जो सन्धि सत्य पूर्वक शपथ लेकर की जाती है, वह विश्वसनीय और स्थायी होती है। उसके टूटने से परलोक में पाप मिलने का भय रहता है, इसलिए वह जल्दी-जल्दी टूटती नहीं है। किन्तु एक सन्दर्भ ऐसा भी है जिसमें कई राजा अपने पुत्र को बन्धक रखकर सन्धि करते थे। उसके लिए आचार्य लिखते हैं कि सन्धि हो जाने के बाद यदि निर्बल की शक्ति बढ़ जाए तो दूसरे राजा के यहाँ बन्धक में रखे हुए पुत्र को मुक्त करा लेना चाहिए।

शत्रु बध के प्रयोग

आचार्य कौटिल्य की राजनीति इस अर्थ में कठोर राजनीति कही जा सकती है जिसमें वे शत्रु राजा के प्रति किसी भी प्रकार से कृपा करने के पक्षपाती नहीं है। वे यह कहते हैं कि विजय प्राप्त की इच्छा वाले राजा के लिए दूसरा राजा न स्थायी रूप से मित्र है और न ही शत्रु है। वह तो यदि

---

१. कौ०अ०, पृ० ६११
२. वही, पृ० ६१७
३. वही, पृ० ६२४
४. वही, पृ० ६५७
५. अभ्युच्चीयमानः समाधिमोक्षं कारयेत्। वही, पृ० ६६१

मित्र है तो अपने राज्य के हित-दर्शन के अनुसार मित्र है और यदि शत्रु है तो भी अपने राज्य के हित के अनुरूप ही शत्रु है। इसीलिए कौटिल्य शत्रु राजा का वध करने के लिए और उसे पूरी तरह से समाप्त कर देने के लिए सभी तरह के उपायों का विचार करते हैं और विजय प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले राजा के लिए सभी कुछ करने का निर्देश करते हैं।

वे 'परघातप्रयोग:' नामक अध्याय में यह लिखते हैं कि विजिगीषु राजा अधार्मिकों के प्रति औपनिषदिक प्रयोग करे। औपनिषदिक का अर्थ सम्भवत: परघात प्रयोग ही है। इस प्रयोग में वे यह कहते हैं कि शत्रु राजा का बध करने के लिए हलाहल विष का प्रयोग करे और उसके लिए मूर्ख, अन्धे, कुबड़े, लंगड़े, लूले आदि का उपयोग करें। इसी प्रकार से शत्रु राजा के क्रीडा क्षेत्र को भी निशाना बनावे और वहाँ गोपनीय ढंग से शस्त्र छिपवा देवे[१]।

कौटिल्य ने इसके लिए अनेक ऐसी औषधियों के प्रयोग को भी कहा है जो विषतुल्य हैं और जिनके प्रयोग से शत्रु राजा का वध किया जा सकता है[२]। इसके अतिरिक्त कंजे के पत्तों, कपास और पुआल, मदार आदि के धुएँ के प्रयोग से शत्रु को अंधा कर देने की विधि को भी कौटिल्य ने प्रतिपादित किया है और यह संकेत किया है कि इसका प्रयोग शत्रु के लिए किया जा सकता है[३]।

मैना, कबूतर, बगला-बगली पक्षियों की विष्ठा से भी शत्रु को अंधा कर देने और पीड़ित कर देने का निर्देश कौटिल्य करते हैं[४]।

---

१. कौ०अ०, पृ० ६०३
२. वही, पृ० ६०४
३. वही, पृ० ६०५
४. वही, पृ० ६०७

आचार्य कौटिल्य बहुत विस्तार से पदार्थों, पक्षियों, पशुओं, पुष्पों, लताओं आदि के साथ-साथ मन्त्रों के प्रयोग से शत्रु राजा के विनाश के उपाय बताते हैं और अन्त में यह लिखते हैं कि विजय प्राप्ति की आकांक्षा वाले राजा को यह चाहिए कि वह इन सबका प्रयोग शत्रु पर करता रहे किन्तु इनसे स्वजनों का उपकार करे[१]। कभी भी इनसे स्वजनों का अपकार न हो ने पावे ।

कौटिल्य जहाँ शत्रु के बध करने के उपायों का कथन करते हैं वहीं वे शत्रु के उपायों से बचाव करने का संकेत भी करते हैं। इसके लिए वे अनेक प्रकार की औषधियों का कथन करते हैं और यह लिखते हैं कि विजय प्राप्ति की आकांक्षा वाले राजा सभी प्रकार की औषधियों से अपनी तथा अपनी सेना की रक्षा करके विषैले धुएं और विषैले पानी का प्रयोग शत्रु पर करते रहें[२]।

---

१. मन्त्रभैषज संयुक्ता योगा माया कृताश्च ये।
उपहन्यादमित्रांस्तैः स्वजनं चाभिपालयेत्।। कौ०अ०, पृ० ६३१

२. कौ०अ०, पृ० ६३२-६३४

पंचम अध्याय

(शिक्षा, धर्म तथा राजनीति)
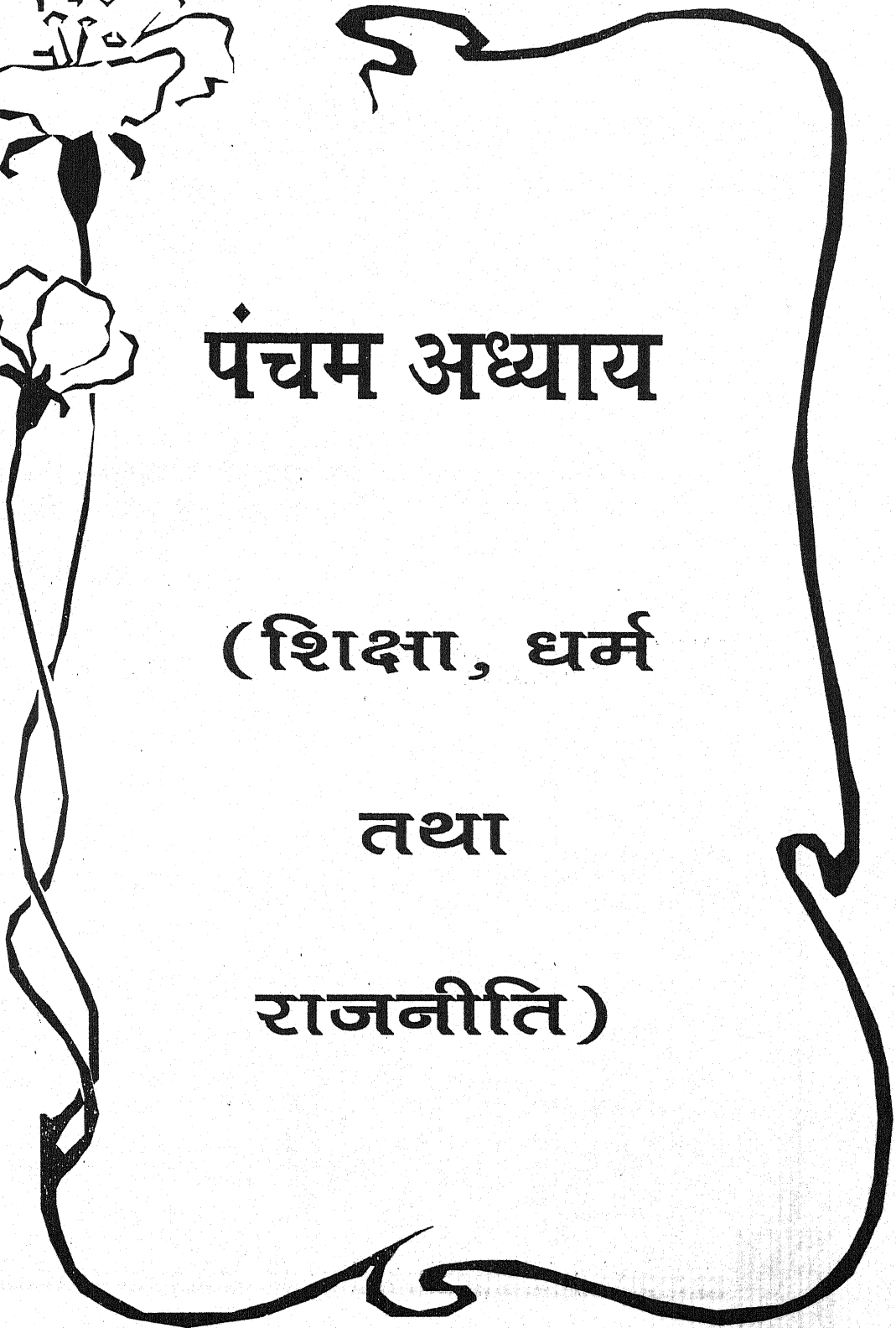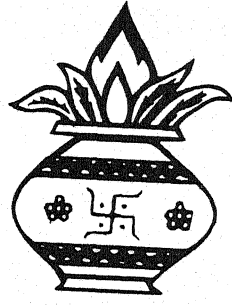
पंचम अध्याय

(शिक्षा, धर्म तथा राजनीति)

शिक्षा का स्वरूप, राजा की शिक्षा, प्रजा की शिक्षा, शिक्षा और समाज, धर्म और उसका प्राचीन स्वरूप, धर्म की कौटिल्य दृष्टि, राजा का धर्म, प्रजा का धर्म, धर्म और समाज, धर्म तथा मनुष्य जीवन की शुचिता, राजनीति और धर्म, धर्म से संचालित राजनीति, धर्महीन राजनीति के सन्दर्भ, शिक्षा और राजनीति, कौटिल्य की समेकित दृष्टि।

पंचम अध्याय

(शिक्षा, धर्म और राजनीति)

शिक्षा का स्वरूप

विद्या और अविद्या के रूप में प्राचीन भारत में दो प्रकार के ज्ञान का कथन किया गया है। एक ज्ञान वह है जो अमृतत्व की उपलब्धि कराता है और दूसरा ज्ञान है जो बंधन का हेतु है। इस अपने प्रारम्भिक विचार के अनुसार ही प्राचीन भारत में शिक्षा की योजना की गई थी और मनुष्य के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों की कल्पना करके शिक्षा के द्वारा इन्हें प्राप्त करने का मार्ग निर्देशित किया गया था। शिक्षा के इस विचार के साथ यह भी कहा गया था कि व्यक्ति के जीवन में यदि संस्कार नहीं किए जाऐंगे और वह संस्कारित नहीं होगा तो शिक्षा भी फलवती नहीं होगी। इसका कारण यह बताया गया था कि संस्कार दोष और इन्द्रिय दोष के कारण अविद्या उत्पन्न होती है और अविद्या से ही अभिभूत होकर मनुष्य दुरितों तथा पापों की ओर अग्रसर होता है। इसलिए यह कहा गया कि अविद्या से उत्पन्न पतनोन्मुख जो भी विचार हैं वे घातक प्रवृत्तियों से व्यक्ति का क्षरण करते रहते हैं और जो वृत्ति इन घातक प्रवृत्तियों से व्यक्ति के क्षरण को रोकती है और उसे पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से बचाती है, वह शिक्षा है[१]।

प्राचीन भारत में शिक्षा को प्रमुख रूप से तीन श्रेणियों में देखा गया है। एक माता के प्रभाव से प्राप्त होने वाली शिक्षा और संस्कार, दूसरी पिता के प्रभाव से प्राप्त होने वाली आचरण रूप शिक्षा और तीसरी आचार्य के प्रभाव से प्राप्त होने वाली शिक्षा। एक विधान तो यह भी था कि गर्भ के पूर्व ही माता-पिता अविलुप्त ब्रह्मचर्य से सन्तान की उत्पत्ति करें जिससे संस्कारित सन्तान की उत्पत्ति हो[२]।

---

१. कल्याण, हि०सं०अ०, पृ० ६५१
२. वही, पृ० ६५१

वेद कालिक शिक्षा व्यवस्था में सर्वप्रथम हम यह देखते हैं कि तब जिस किसी रूप में वेद की शिक्षाओं में ऋग्वेद का प्रचलन था। बाद में वेद भी अध्ययन के विषय बने जिन में देवताओं की सूक्तियाँ और यज्ञ विधानों का कथन किया गया था। एक सन्दर्भ से यह ज्ञात होता है कि वेद अनन्त थे किन्तु उनमें से चार वेद ही संकलित रूप में रह गए[१]। बाद में वेदाङ्ग-शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण और छन्दों का प्रसार हुआ और इनकी शिक्षा समाज में प्रचलित हुई। वेदाङ्गों की शिक्षा के समय अन्य जो विषय और प्रचलन में थे, वे अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, गाथा-नाराशंसी आदि प्रचलित थे[२]। इसमें यह कहा गया है कि अनुशासन वेदाङ्ग है, विद्या न्याय-मीमांसा आदि दर्शन हैं। वाकोवाक्य वर्तमान शास्त्रार्थ के सदृश हैं। इसमें यज्ञ, ब्रह्म, आत्मा आदि के सम्बन्ध में विचार किया जाता था। इतिहास और पुराणों में पराक्रमी वीरों एवं देव ऋषियों की चरित-गाथा का वर्णन होता था। गाथा और नराशंसी में महापुरुषों की स्तुतियों का निबन्धन था[३]। एक स्थान पर देवयजन-विद्या और माया वेद तथा इतिहास-पुराणों को विद्या कहा गया है[४]।

उपनिषद् परम्परा में जब शिक्षा व्यवस्था पर संकेत किए गए तो वहाँ पर शिक्षा का अर्थ विद्या ग्रहण के लिए हुआ। आचार्य शंकर ने एक स्थान पर शिक्षा का अर्थ वर्ण आदि का उच्चारण किया है[३] जबकि उपनिषद् की दृष्टि से शिक्षा में दम, दया, दान आदि गुणों के विकास का भी प्राविधान है[६]।

---

१. तै०सं० ३/१०/११
२.अथर्व० १५/६/११-१२; श०ब्रा० ११/५/६/८
३. प्रा० भा० सा० सां०, पृ० १४८
४. श०ब्रा० १३/४/३/२
५. तै०उ० १/२/१ पर शांकर भाष्य
६. बृ० उ०, ५/२/३

उपनिषद् की शिक्षा का अभिप्राय एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति की ओर संकेत करता है जिसमें यह कहा गया कि व्यक्ति को स्वाध्याय और प्रवचन से कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। अर्थात् उसे अपने पूरे जीवन में शिक्षा से जुड़ा रहना चाहिए और इसमें कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए। शिक्षा की पूर्णता उस काल में तब थी, जब व्यक्ति आत्म साक्षात्कार कर लेता था।

कौटिल्य की शिक्षा

आचार्य कौटिल्य ने जो लिखा है उसके अनुसार वे अन्य अनेक आचार्यों के मत देते हैं और फिर उन मतों पर विचार कर अपना निष्कर्ष देते हैं। जैसे कि वे यह लिखते हैं कि आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति विद्या है। इनमें से मनु के अनुयायी यह मानते हैं कि त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ही विद्या है। इनका मानना है कि आन्वीक्षिकी का समावेश त्रयी के अन्तर्गत ही हो जाता है। आचार्य वृहस्पति केवल दो विद्यायें ही स्वीकार करते हैं और वे वार्ता और दण्ड नीति को ही विद्या मानते हैं। आचार्य शुक्र केवल दण्ड नीति को ही विद्या मानते हैं।

आचार्य कौटिल्य का यह मत है कि सभी विद्याओं को मनुष्य के हित के लिए उपकारी मानना चाहिए और इसमें यह देखना चाहिए कि जो धर्म के साधन में उपकारी हैं और अधर्म के साधन में निरुपकारी हैं, वे विद्याएं हैं[१]। यहाँ पर धर्म से अभिप्राय व्यक्ति के अपने-अपने वर्ण आश्रम के कर्तव्यों का संकेत हो सकता है क्योंकि आचार्य कौटिल्य ने ऐसा व्याख्यान किया भी है जिसमें वे वर्णाश्रमों के कर्तव्यों को धर्म के रूप में कहते भी हैं[२]।

आचार्य कौटिल्य विद्या के दो विभाग भी करते हैं, एक विनय और दूसरे कृतक के रूप में। विद्या का विनय स्वरूप

---

१. चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः। ताभिर्धर्मार्थौ यद् विद्यात्तद् विद्यानां विद्यात्वम्। कौ०अ०, पृ. १०
२. वही, पृ० १२

वह है जिसमें वह स्वाभाविक रूप से विनयी और सुपात्र होता है और कृतक वह है जिसमें व्यक्ति वनावटी रूप से विद्या को धारण कर सुपात्रता दिखाता है। आचार्य कौटिल्य वर्ण और अक्षरों के ज्ञान के बाद, जो मुण्डन संस्कार के बाद कराया जाता है, राजा के लिए सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव आदि की शिक्षा के लिए कहते हैं और फिर यह कहते हैं कि वह दण्डनीति की शिक्षा ग्रहण करे[१]।

कौटिल्य का यह मत है कि शिक्षा सुपात्र को ही योग्य बनाती है, अयोग्य को वह पात्रता प्रदान नहीं करती है। विद्या से वही योग्य हो सकते हैं जो शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहापोह और विवेक बुद्धि से काम लेते हैं[२]।

शिक्षा का महत्त्व-

शिक्षा ज्ञान के द्वारा आधिभौतिक रूप से तो व्यक्ति के लिए प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण रही ही है, प्राचीन भारत में इसके अतिरिक्त जो अवधारणा थी, उसके अनुसार ज्ञान से मनुष्य का व्यक्तित्व भी दिव्य हो जाता था। वह ज्ञान सम्पन्न होने पर देवत्व प्राप्त कर लेता था और समाज में उच्च आदर का पात्र बन जाता था। वेद यह स्पष्ट रूप से कहता है कि जो व्यक्ति दार्शनिक रहस्य को जानता है, वह पिता का भी पिता होता है[३]। एक सन्दर्भ में यह कहा गया है कि विद्वान् देवता जैसा होता है[४]। एक अन्य सन्दर्भ के अनुसार यह कहा गया है कि जो स्नातक होता है, वह पृथिवी पर अतिशय शोभा पाने का अधिकारी होता है[५]।

---

१. कौ०अ०, पृ० १६

२. शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहत-त्वाभिनिविष्टबुद्धिं विद्या विनयति नेतरम्। वही, पृ० १८

३. ऋक् १/१६४/१६

४. विद्वांसो हि देवाः। श०ब्रा० ३/७/३/१०

५. अर्थ० ११/५/२६

उपनिषद् काल में ही इसी प्रकार की बातें कही गई हैं। यद्यपि उस काल में ब्रह्मज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व था और यह कहा गया था कि जो ब्रह्मज्ञानी होता है वह अमर होकर शोक को पार कर जाता है[१]। उपनिषद् में परा तथा अपराविद्या के रूप में विद्या को दो भागों में भी कहा गया है। इन दोनों में कोई बहुत विशेष अन्तर भी नहीं कहा गया है। परा विद्या ऐहिक जीवन में वेद तथा वेदांगों के महत्त्व को निरूपित करती है। यह विद्या ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञान के लिए बाधक नहीं कही गई है अपितु यह कहा गया है कि ऐहिक विद्या अपरा विद्या की पृष्ठ भूमि तैयार करती है[२]।

उपनिषद्काल में आचार्य का यह उद्देश्य होता था कि वह शिष्य के मांगलिक जीवन के लिए शिक्षा का प्रयास करे। उसमें उत्तम आचरण का अवधान हो और वह मानसिक रूप से पुष्ट हो सके। तब, वेद, इतिहास-पुराण, वाकोवाक्य, यज्ञशास्त्र, गूह विद्या, आयुर्वेद आदि का अध्यापन उसे लौकिक जीवन ठीक से व्यतीत करने के लिए ही किया जाता था[३]।

आचार्य कौटिल्य ने विद्या की विशेषताओं का संकेत कई स्थानों पर किया है। जैसे कि उन्होंने एक स्थान पर यह लिखा है कि आन्वीक्षिकी विद्या सभी विद्याओं की प्रदीप है[४]। वे लिखते हैं कि शास्त्र-श्रवण बुद्धि के विकास में सहायक होता है उससे योग शास्त्रों में रुचि बढ़ती है और योग से आत्मबल प्राप्त होता है[५]। और विद्या के महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि जो व्यक्ति विद्या, बुद्धि, पौरुष, कुल और सत्कर्मों के कारण आदर योग्य हों तो उनकी सदा प्रतिष्ठा की जाए[६]।

---

१. मु.उ. ३/२/६
२. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदाः शिक्षाकल्पोव्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
वही, १/१/४-५
३. बृ.उ० ३/१/१; छा०उ० ७/१/२ पर शां०आ०; ए.इ.ए.,पृ० ११०
४. कौ०अ०, पृ०११
५. वही, पृ० १६
६. वही, पृ० ४१७

राजा की शिक्षा

राजा के जीवन और उसके शासन का लक्ष्य प्रजा पालन प्रारम्भ से ही रहा है इसलिए तभी से यह विचार किया जाता रहा है कि राजा में वे गुण विकसित हों, जो उसे एकश्रेष्ठ मनुष्य भी बनाते हों, इसलिए जो शिक्षा सामान्य जन के लिए अनुकूल थी, वही राजा के लिए दी गई, किन्तु क्षत्र शब्द से प्रचलित क्षत्रिय शब्द का अभिप्राय रक्षा करने से है। इसलिए प्राचीन समय में ही क्षत्रिय अर्थात् राजा के लिए कुछ विशेष विषय अध्ययन के लिए निर्धारित रहे हैं।

इस सन्दर्भ में जब हम प्राचीन संकेतों का अध्ययन करते हैं तो यह प्रतीत होता है कि उपनिषद् काल में राजनैतिक विषय जैसे एकायन और क्षत्र विद्या का क्षेत्र प्रारम्भ हो चुका था। यद्यपि इन विषयों के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि इनके अर्थ को लेकर भिन्नता है किन्तु इतना स्वीकार किया गया है कि इनका सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्थाओं से किसी न किसी रूप में अवश्य है[१]। एकायन को राजनीति से जोड़ने वाले विद्वान् इसका अर्थ सैन्य शिक्षा से भी लेते हैं क्योकि राजनीति और सैन्योपकरण का अभिन्न सम्बन्ध है[२]।

महाभारत का विषय भी राजनीति और युद्ध से सम्बन्धित है इसलिए राजाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में अनेकों संकेत किए गए हैं। वहाँ पर अनेक ऐसे आचार्यों के नाम आते हैं जो युद्ध विद्या के विशारद थे और जो अपने राजनीतिक शिक्षार्थियों को शस्त्र-विद्या की शिक्षा

---

१. उ०स०सं०, पृ०३३; हि०सो०आ०, पृ० १२२; छा०उ०, पृ० ७/१/२
२. हि०सो०आ०, पृ० १२२

देते थे। इनके नामों में भरद्वाज, द्रोणाचार्य, परशुराम आदि का नाम बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि शस्त्र विद्या की शिक्षा ग्रहण करने में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों होते थे तथापि क्षत्रिय कुमारों को धनुर्वेद, अश्वपृष्ठ, गदायुद्ध, गज-शिक्षा और नीति शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। छात्र श्रम और व्यायाम में कुशल होते थे[१]। एक विद्वान् ने यह मत दिया है कि महाभारत में पाण्डव कुमारों के विविध व्यवसायों में निष्णात होने का परिचय उनके विराट नगर में वास करने के प्रकरण से प्राप्त होता है। वहाँ पर युधिष्ठिर का जुआ खेलना, अर्जुन के द्वारा अश्व विद्या में चतुर होना और सहदेव का गाय पालन में दक्ष होना। इससे यह पता चलता है कि तब राजकुमारों को राजनीति के अतिरिक्त अन्य व्यावहारिक विषयों का ज्ञान भी कराया जाता था[२]।

आचार्य कौटिल्य राजाओं के लिए जिसप्रकार की शिक्षा की व्यवस्था का संकेत करते हैं, उसमें वे यह लिखते हैं कि राजा त्रयी विद्या क`साथ वार्ता विद्या अर्थात् कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि की भी शिक्षा प्राप्त करे जो तत्-तत् विद्वानों और जानकारों से उसे प्राप्त करना चाहिए। और फिर वह दण्ड विद्या अर्थात् सन्धि, विग्रह, यान, आसनादि की शिक्षा भी ग्रहण करे[३]।

---

१. म०भा० आदि पर्व १०२/१६-१८; रा० बालकाण्ड १८/२५-२८

२. प्रा० भा०सा०सां० भू०, पृ० १५१

३. वृत्तोपनयनस्त्रयीभान्वीक्षकीं च शिष्टेभ्यः, वार्तामध्यक्षेभ्यः, दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्यः।
कौ०अ०, पृ० १६

इसके साथ-साथ राजा के लिए जो दिन और रात्रि के कार्य का विभाजन किया गया है उसमें भी यह कहा गया है कि वह दिन का पहला भाग हाथी, घोड़ा, रथ, अस्त्र-शस्त्र आदि विद्याओं की शिक्षा में लगावे, दिन का दूसरा भाग इतिहास-पुराण आदि के सुनने में और बाकी समय में नए ज्ञान के विषय में अपना समय दें[१]।

प्रजा की शिक्षा

प्रजा अर्थात् सामान्य जन सदा से ही राष्ट्र की अमूल्य निधि रहे हैं। इसलिए जो भी राजा राष्ट्र हित में संलग्न रहा, उसने प्रजा के हित का विचार कर उसके लिए शिक्षा व्यवस्था अवश्य की। प्राचीन व्यवस्था में जो भी संकेत हैं उनमें यह कहा गया है कि राजा तब सम्मेलनों का आयोजन करते थे और राजाओं की परिषदें अथवा समितियाँ स्वयं को ज्ञान की चर्चा में लगाती थीं[२]। राजा अपने दरबार में भी विद्वानों का स्वागत करते थे और उनके यहाँ हुए शास्त्रार्थ से सभी का ज्ञान वर्धन होता था। राजाओं के तब के राज्य में गुरुकुलों की व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में होती थी और राज्य का बहुत अधिक हस्तक्षेप इनमें नहीं होता था। पाठ्य क्रम आदि के निर्धारण में भी आचार्य स्वतंत्र होते थे[३]।

शिक्षा किसे दी जाए और शिक्षा प्राप्त करने का कौन अधिकारी है, इस विषय में शिक्षार्थी के संस्कारों का परीक्षण तब अवश्य किया जाता था। जैसे सत्यकाम ने अपने पिता का नाम न जानने पर भी माता का परिचय दिया और सत्य कहा तो आचार्य ने उसे विना वर्ण का विचार किए स्वीकार कर लिया[४]। इसी तरह से नचिकेता की प्रवृत्ति जानकर ही यम ने उसे विद्या दी थी, क्योंकि वह लाभ वृत्ति में नहीं फँसा था[५]।

---

१. कौ०अ०, पृ० १६
२. छा०उ० ५/३/१; बृ० उ० ६/२/१
३. उ०स०सं०, पृ० २६५-२६६
४. छा०उ० ४/४
५. कठो प्रथम वल्ली २०-२६

यद्यपि वेदकाल में इस प्रकार के संकेत हैं जिसमें वेद पढ़ने का अधिकार त्रिवर्ण को ही था तथापि कुछ ऐसे कथन भी हैं जिनमें अन्य वर्णों को भी विद्या प्राप्त करने का अधिकार था। शूद्रों के लिए भी समावर्तन संस्कार का संकेत एक स्थान पर हैं[१]। मनु ने ऐसे गुरुओं का उल्लेख किया है जो शूद्र वर्ण के थे[२]।

आचार्य कौटिल्य ने सामान्य जन की शिक्षा का संकेत किया है और राजाओं के लिए यह कहा है कि वह राज्य के नियमों के द्वारा अपने-अपने धर्म पर दृढ़ बने रहने के लिए प्रजा पर नियन्त्रण रखे और शिक्षा के प्रचार-प्रसार से प्रजा को विनम्र तथा शिक्षित बनावे[३]।

समाज के सभी वर्णों की शिक्षा की व्यवस्था के लिए तो आचार्य कौटिल्य यही कहकर निर्देश करते हैं कि वह प्रजा में विनय की प्राप्ति के लिए उन्हें विद्या से शिक्षित करता रहे। वे तो गणिकाओं के लिए भी शिक्षक आचार्यों की नियुक्ति का विधान करते हैं जिसमें वे यह लिखते हैं कि गाना, बजाना, नाचना, नाटक करना, लिखना, चित्रकारी करना, वीणा-वेणु, मृदङ्ग बजाना, सुगन्धित द्रव्यों को बनाना, माला गूँथना, पैर दबाना, शरीर सजाना तथा अन्य कलाओं की शिक्षा के लिए राजा अपने गणिकाध्यक्ष द्वारा पूरी व्यवस्था कराए[४]। इस प्रकार से यह राजा का कर्तव्य बनता है कि वह पूरे समाज के लिए शिक्षा की ऐसी व्यवस्था करे जिससे पूरा का पूरा समाज सुशिक्षित होकर समाज की व्यवस्था में सहभागी बन सके।

---

१. आ०गृ० सू० ३/८
२. इ०फि० (२), पृ० ३१६
३. कौ०अ०, पृ० २३
४. वही, पृ० २५६

शिक्षा और समाज

प्राचीन काल से ही शिक्षा को व्यक्ति के उन्नयन का साधन माना गया है। इसलिए सभी से यह कहा गया कि व्यक्ति को शिक्षित करना जहाँ उसके लिए कर्तव्य रूप है उसी तरह से समाज के लिए भी यह आवश्यक है कि वह शिक्षा के प्रति जागरूक रहे और शिक्षा से समाज में संस्कार देने का हेतु बनता रहे। उपनिषद्काल में शिक्षा के प्रति पूरा समाज जागृत था और तब स्वाध्याय तथा प्रवचन के द्वारा शिक्षा की प्रक्रिया को सतत् संचालित किया जाता था[१]। उस समय भी यह विचारधारा किसी न किसी रूप मे प्रचलित थी जिसमें यह माना जाता था कि गृहस्थ के घर में पण्डित पुत्र तथा पुत्री होवे[२]। पण्डित से यही अभिप्राय था कि वे शिक्षा के प्रति रुचिवान हों और शिक्षित होकर अपना जीवन जिएँ। कठोपनिषद् में दिए गए नचिकेता के आख्यान से यह ज्ञात होता है कि वह अपनी छोटी सी अवस्था में ही उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए सक्रिय हो गया था, जिस ज्ञान से व्यक्ति के जीवन में परम श्रेय की उपलब्धि होती है[३]।

उपनिषद्कालीन समाज के शिक्षित होने और ज्ञान के प्रति अभिरुचि होने के और भी ऐसे संकेत हैं जिसमें उस समय के राजाओं में ऐसी रुचि थी और स्त्रियाँ भी सत्य का साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्नशील थीं। याज्ञवल्क्य जब अपनी पत्नियों को उत्तराधिकार देना चाहते हैं तो वे गार्गी के द्वारा पूछे गए प्रश्नों से चकित हो उठते हैं और उस सत्य का कथन करते हैं जो सार्वकालिक रूप से सत्य है[४]।

---

१. तै०उ० १/६/१
२. बृ० उ० ६/४/१७-१८
३. कठो० १/१/१०; १/१/१३/२०
४. बृ० उ० ३/८/२

कौटिल्य काल के सन्दर्भ में भी हम यह देख सकते हैं कि समाज में शिक्षा का महत्त्व किसी भी प्रकार से कम नहीं था। राजाओं के लिए यदि प्रमुख रूप में राजनीतिक विषयों के साथ-साथ सैन्य विषयों का अध्ययन होता था तो सामान्य जन के लिए अन्य ऐसे अनेक विषय अध्ययन में प्रचलित थे, जो उसकी जीविका के साधन बनते थे और उसे व्यक्ति के रूप में भी परिष्कृत करते थे।

एक बात तब के समाज में अवश्य दिखाई देती है कि शिक्षा के साथ-साथ चारित्रिक विकास पर जोर दिया जाता था। जीवन को सदाचार के ढाँचे में ढालकर यह अपेक्षा की जाती थी कि व्यक्ति तप और योग के द्वारा अपनी काम वृत्तियों पर काबू करे। वैदिक, जैन और बौद्ध संस्कृतियों में विद्यालयों में इस विषय को शिक्षण के विषय के रूप में अपनाया जाता था[१]।

कौटिल्य के समय के एक यात्री ह्वेनसांग ने नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्ययन-अध्यापन के विषयों की चर्चा करते हुए यह लिखा है कि इसमें पंच विषयों में विज्ञान विद्या का भी समावेश था। इस विद्या में विविध यन्त्रों और ज्योतिषादि शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी[२]। अर्थशास्त्र में भी अनेक प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख है और मनु ने महायन्त्र-प्रवर्तन को उपपातक कहा है[३]।

दण्डनीति विद्या के शिक्षण के सन्दर्भ में आचार्य कौटिल्य ने इस विद्या का जो उद्देश्य कहा है और जिसे समाज के लिए हितकर माना है, वह यह है कि विद्या उपलब्ध का लाभ कराने वाली, लब्ध का रक्षण कराने वाली और रक्षित का अभिवर्धन करने वाली होती है[४]।

---

१. प्रा० भा०सा०सां०, पृ० १५८
२. Y.Ch., पृ०२ ५४
३. मनु०स्मृ० ११/६३
४. कौ०अ० १/४/६

धर्म और उसका प्राचीन स्वरूप

एक प्राचीन आरण्यक ग्रन्थ में यह कहा गया है कि धर्म से ही जगत की प्रतिष्ठा है। धर्मशील के पास ही प्रजा जाती है। धर्म से ही व्यक्ति पाप से विमुक्त होता है। धर्म में ही सभी कुछ प्रतिष्ठित है, इसलिए धर्म ही श्रेष्ठ है[१]।

यदि धर्म का प्रयोग और सन्दर्भ हम इस रूप में देखें तो प्रारम्भ में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों और धर्म की क्रियाओं के सन्दर्भ में हुआ है[२]। धर्म प्रथम रूप से विद्यमान था, और प्रथम विधि के रूप में हैं, ऐसा भी संकेत वहाँ पर विद्यमान है[३]। कहीं पर धर्म शब्द का अभिप्राय निश्चित नियम अथवा आचरण के रूप में भी हुआ है[४]।

अन्य और भी सन्दर्भ धर्म शब्द के हैं जिनमें हम यह देख सकते हैं कि धर्म शब्द का अभिप्राय धीरे-धीरे समय के अनुरूप बदल रहा था। अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया अथवा संस्कारों से अर्जित गुणों के लिए भी हुआ है[५]। जबकि एक ब्राह्मण ग्रन्थ में धर्म शब्द के प्रयोग से धार्मिक कर्तव्यों का अभिप्राय प्रकट होता है[६]।

उपनिषद् परम्परा धर्म को श्रेयरूप में कहती है[७]। इसके प्रयोग के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि धर्म समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत धर्म के मधु हैं[८]। इसका अर्थ यह है कि उपनिषद् धर्म के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में श्रेय की कल्पना करती हैं।

---

१. तै०आ० १०/६३/७
२. ऋक् १/२२/१८; ६/६४/१
३. वही ३/१७/१; ३/३/१
४. वही ४/५३/३; ७/८६/५
५. अथर्व० ६/६/१७
६. ऐ०ब्रा० ७/१७
७. बृ०उ० १/४/१४
८. वही, शां०भा० २/५/११

उपनिषद् परम्परा में यह प्रयत्न किया गया कि धर्म को सत्य का स्वरूप निरूपित करने के साथ-साथ उसे व्यवहारिक जीवन के लिए ग्रहणीय बनाया जाए। इसीलिए वहां पर यह कहा गया कि जो सत्य बोलता है, वह धर्म बोलता है[१]। तब समाज को यह उपदेश विधि पूर्वक किया जाता था कि वह सत्य बोले और धर्म का आचरण करे[२]।

एक उपनिषद् में धर्म की विस्तृत व्याख्या करते हुए उसे व्यवहार के स्तर पर लाने का भी प्रयास हुआ है। धर्म का प्रथम स्कन्ध है अध्ययन और दान। धर्म का दूसरा स्कन्ध है तप और धर्म का तृतीय स्कन्ध है आचार्य कुल में निवास[३]। इस प्रकार के धर्माचरण से पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है- ऐसा कथन वहाँ पर किया गया है। इस प्रकार की धार्मिक अवधारणा देने के पीछे उस समय उपनिषद् के आचार्यों का लक्ष्य सम्भवतः गृहस्थ, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थाश्रम में निवास करने वालों के लिए आचरण रूप धर्म का कथन करना भी हो सकता है। यज्ञ और दान ऐसे कर्तव्य हैं जो कर्मकाण्ड के महत्त्वपूर्ण अंग है। उपनिषद् काल के ऋषियों का यह मन्तव्य था कि सामान्य जन इनका पालन करता हुआ आगे के जीवन में परमश्रेय रूप अपने कल्याण को प्राप्त करे। जब उपनिषदें यह चाहती हैं कि व्यक्ति के लिए परम ज्ञान ही कल्याण प्रद है तो वे यह भी उपदेश करती हैं कि आचरण रूप धर्म का पालन इसलिए करना चाहिए क्योंकि आचरण के सत्स्वाभावी होने के कारण इससे व्यक्ति का जीवन स्वच्छ और सुन्दर बनता है[४]।

---

१. बृ०उ० १/४/१४
२. प्रै०अ० १/११/१
३. छा०उ० २/२३/१
४. उ०स०सं०, पृ० ७६; दी०प्रि०उ०, पृ० १३२

स्मृतियों में भी धर्म का व्यवहार और उसके आचार पर विचार किया गया है। महर्षि मनु चाहते हैं कि धर्म का व्याख्यान सभी के लिए हो और सभी वर्ण धर्म का पालन करें। वे लिखते हैं कि समस्त वेद और वेदज्ञजनों की स्मृति तथा उनका शील, संतों का आचार और हृदय की प्रसन्नता धर्म का मूल है[१]। श्रुति वेद हैं एवं धर्मशास्त्र स्मृति हैं। इसके सभी विषय तर्क रहित होने चाहिए क्योंकि धर्म की उत्पत्ति इन्हीं के द्वारा होती है[२]। धर्म के गुणों और लक्षणों का कथन करते हुए मनु ने यह भी कहा है कि वेद और स्मृतियाँ तो धर्म के मूल में हैं किन्तु व्यक्ति के जीवन का जो सद् आचार है, वह भी धर्म है। इसके साथ ही स्वयम् पर विश्वास अर्थात् अपने मन पर विश्वास भी धर्म है[३]।

मनु के इस धर्म कथन में हम यह देख सकते हैं कि वेदों और स्मृतियों को धर्म का मूल मानने के साथ-साथ वे व्यक्ति के आचरण को महत्त्व देते हैं और इसीलिए वे यह लिखते हैं कि व्यक्ति के जीवन का सद् आचरण भी धर्म है। इसके साथ ही व्यक्ति का अपना मन भी अच्छी दृष्टि में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसलिए व्यक्ति के स्वच्छ मन से किया गया कर्म भी धर्म ही है। मनु की धर्म की यह अवधारणा जहाँ व्यक्ति के लिए उसके सुन्दर कर्म और आचरण को व्यक्त करती है, वहीं व्यक्ति के आत्म सम्मान का भी एक बड़ा हेतु दिखाई देती है तथा व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले कर्म में उसकी अपनी शुचिता भी सम्मिलित हो जाती है।

---

१. म०स्मृ० २/६
२. वही २/१०
३. वेदःस्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।। वही २/१२

याज्ञवल्क्य धर्म का जिस रूप में कथन करते हैं उसके अनुसार वे भी यही लिखते हैं कि श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने मन का जो सत् विचार है, वह धर्म का मूल है। व्यक्ति जो भी कार्य करे, उसमें भी यदि उसका सत् संकल्प है तो वह धर्म का ही मूल है[1]। इस रूप में महाराज मनु के साथ-साथ याज्ञवल्क्य का विचार भी मिलता है और धर्म के मूल में वेद और स्मृतियों के होने पर भी व्यक्ति के श्रेष्ठ मन का महत्त्व प्रतिपादित होता है।

इसके अतिरिक्त भी अन्य प्राचीन ग्रन्थों में धर्म के स्वरूप का कथन किया गया है। वहाँ पर वेद को ही धर्म का मूल कहा गया है तथा स्मृतियों को धर्म के निरूपण का मुख्य हेतु माना गया है।

सूत्र ग्रन्थ भी धर्म के लिए लगभग इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं। एक सूत्रकार लिखते हैं कि वेद ही धर्म का मूल है और स्मृतियों से उसका सम्पूर्ण विवेचन ज्ञात होता है[2]। इसी प्रकार से एक सन्दर्भ और इसी तरह का है जिसमें यह कहा गया है कि धर्म की स्थिति जानने के लिए वेद ही प्रमाण है[3]।

इन सभी प्रमाणों और उद्धरणों के आधार पर यह कहना संगत हो सकता है कि प्रारम्भ में अर्थात् वेदकाल में ऋत और सत्य रूप धर्म का संकेत तो किया गया था किन्तु उसका स्पष्ट रूप से व्याख्यान नहीं निर्धारित हुआ था। उपनिषद् काल में अवश्य ही धर्म की व्याख्या स्पष्ट हुई और उसे मानसिक व्यवहार के साथ-साथ क्रिया परक व्यवहार के लिए भी कहा जाने लगा। स्मृतियों में सद्आचरण को धर्म रूप में कहकर उसे आचरण परक बनाने का प्रयत्न हुआ, जिसे आगे हम कौटिल्य के विचारों से कर्तव्य रूप में देख सकेंगे।

---

१. या०स्मृ० १/७
२. वेदा धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले। गौ०सू० १/१/२
३. धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च। आ०ध०सू० १/१/१/२

धर्म की कौटिल्य दृष्टि

आचार्य कौटिल्य ने धर्म को लेकर बड़ी स्पष्टता के साथ विचार किया है और उन्होंने सामान्य धर्म तथा विशेष धर्म के रूप में धर्म को दो प्रकार का कहा है। धर्म की जो प्रारम्भिक परिभाषा थी, उसके अनुरूप आचार्य ने सामान्य धर्म का कथन किया है और जो धर्म की व्याख्या कर्तव्य रूप में कही गई थी, उसके अनुरूप आचार्य ने विशेष धर्म का कथन किया है। यह विशेष धर्म और कुछ नहीं वर्ण तथा आश्रम के कर्तव्य के रूप में कहा गया है। कौटिल्य लिखते हैं कि त्रयी विद्या के अन्तर्गत जो धर्म चारो वर्णों के कर्तव्यों और चारो आश्रमों के कर्तव्यों के रूप में कहा गया है, वह कर्तव्य रूप में स्थिर होने के कारण लोक का बहुत उपकारक है। अर्थात् कर्तव्यों का निर्वाह करने से ही धर्म का पालन होता है और इसी धर्म का पालन होने से सभी अपने-अपने कर्तव्य में स्थिर रहते हैं[१]।

आचार्य कौटिल्य लिखते हैं कि ब्राह्मणों को अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह आदि कर्म करने चाहिए। क्षत्रिय को अध्ययन, यजन, दान के साथ शस्त्र से अपनी जीविका अर्जित करनी चाहिए और उसका कर्तव्य है कि वह सभी प्राणियों की रक्षा करे। इसी प्रकार से कौटिल्य ने वैश्य और शूद्रों के धर्म का अर्थात् उनके कर्तव्य का कथन किया है। इसी तरह से आचार्य कौटिल्य ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी के लिए उनके धर्म का कथन करते हैं और यह लिखते हैं कि सभी को अपने-अपने कर्तव्य का पालन भली-भाँति करना चाहिए क्योंकि यही उनका धर्म है।

आचार्य कौटिल्य ने इसमें भी प्रवृत्तिपरक और निवृत्ति परक दो प्रकार के कर्तव्यों का कथन आश्रम व्यवस्था में किया है। यदि उनकी दृष्टि से ब्रह्मचारी को तथा गृहस्थ को प्रवृत्ति परक कार्य करने हैं तो वानप्रस्थाश्रम वासी के लिए ऐसे कर्तव्य कहे गए हैं जो उनके लिए निवृत्तिपरक कर्तव्य हैं। जैसे कि संन्यासी का कर्तव्य रूपी धर्म है जितेन्द्रिय होना, सांसारिक कार्यों से विरत रहना, मन-वचन तथा धर्म से पवित्र रहना[२]।

---

१. एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः। कौ०अ०, पृ० १२
२. परिव्राजकस्य संयतेन्द्रियत्वमनारम्भो निष्किञ्चनत्वं सड.त्यागो भैक्षमनेकत्रारण्यवासो वाह्याभ्यान्तरं च शौचम्। कौ०अ०, पृ० १३

कर्तव्य रूप धर्म का कथन करने के साथ आचार्य कौटिल्य एक सामान्य धर्म का भी कथन करते हैं और यह लिखते हैं कि प्रत्येक वर्ण और आश्रम का यह परम धर्म है कि वह कभी किसी की हिंसा न करे, सत्य का भाषण करे, पवित्र बना रहे, किसी से ईर्ष्या न करे तथा दया के स्वभाव वाला होवे और क्षमाशील हो।

धर्म के इस प्रतिपादन में हम यह देखते हैं कि यह एक ऐसा प्रतिपादन हैं जो सभी मुनष्यों के लिए है और सभी अन्तस् के गुणों को व्यक्त करता है। इसमें न तो किसी वर्ण का पृथक् से कथन है और न किसी विशेष आश्रम का ही कथन है। सभी वर्णों और आश्रमों के लिए यह एक धर्म का कथन है कि मनुष्य को मनुष्यता की ओर ले जाता है और उसे श्रेष्ठ मनुष्य बनाने में सहायक होता है। एक दूसरी दृष्टि से हम यह विचार भी कर सकते हैं कि जहाँ व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यों से परिपूर्ण होकर लौकिक क्षमता प्राप्त कर सकता है, वहीं वह सामान्य धर्म का पालन करके एक श्रेष्ठ व्यक्ति बन सकता है। इस रूप में धर्म की धरणा से परिपूर्णता की प्राप्ति को पाया जा सकता है।

धर्म की ऐसी ही व्याख्या करने के बाद कौटिल्य यह कहते हैं कि जो भी अपने धर्म का पालन करता है, वह अपने कर्तव्य का पालन तो करता ही है, वह स्वर्ग और मोक्ष का भी अधिकारी बनता है। जो धर्म का पालन नहीं करता है उसमें वर्ण संकरता आ जाती है और इस रूप में लोक ही भ्रष्ट हो जाता है।

इस प्रकार से कौटिल्य की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि धर्म का पालन मनुष्यों के लिए न केवल व्यक्तिगत उत्कर्ष के लिए आवश्यक जान पड़ता है अपितु धर्म के आचरण से समाज भी श्रेष्ठ स्थिति में पहुँच जाता है।

---

१. सर्वेषां अहिंसासत्यं शौचमनसूयानृशस्यं क्षमा च। कौ.अ., पृ० १४

राजा का धर्म

प्राचीन काल से ही जब कभी राजा के धर्म पर विचार किया गया है तो उसे राजधर्म माना गया है क्योंकि राजा का पूरा जीवन राज्य के लिए होता था, इसलिए उसके द्वारा आचरण में लाया जाने वाला धर्म राज धर्म कहा जाता था। राजा के द्वारा आचरण में लाए धर्म को राज धर्म के रूप में कहकर उसे धर्म तत्त्व अर्थात् सभी धर्मों का सार भी कहा गया। महाभारत में एक स्थान पर उन प्राचीन ऋषियों के नामों का संकेत किया गया है जिन्होंने अपने-अपने ग्रन्थों में राजधर्म का वर्णन किया है। इनमें वृहस्पति, भरद्वाज, महेन्द्र, मनु, विशालाक्ष आदि परिगणित हैं[१]। आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र में मानवों, वार्हस्पत्यों, औशनसों, पराशरों तथा अम्भियों का उल्लेख किया है। इसके साथ बाहुदन्ती, घोटक मुख, कात्यायन, किञ्जलक तथा पिशुनपुत्र के नाम भी संकेतित हैं। आचार्य ने भरद्वाज, कौणपदन्त, पराशर,पिशुन, वातव्याधि तथा विशालाक्ष के सिद्धान्तों की चर्चा की है[२]।

राजधर्म में लोक के सभी धर्म प्रविष्टहैं और राजा का धर्म सभी धर्मों में प्रधान है- ऐसा व्यास का कथन है। इसका कारण लिखते हुए वे संकेत करते हैं कि राजा के द्वारा अपने धर्म का पालन किए जाने पर प्रजा में न कोई रोग होता है, न कोई दोष होता है और न किसी प्रकार का भय होता है। क्योंकि राजा सभी लोक के जनों को ध्यान में रखकर ही अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन करता है[३]। यह सन्दर्भ इसलिए महत्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि इनके द्वारा राजा के जिस धर्म की ओर संकेत किया गया है, उसमें उसके कर्तव्यों का कथन है और इससे केवल राजा का नहीं, प्रजा का पूरा हित संपादित होता है, इसलिए राजधर्म की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है।

---

१. म०भा०शां० प० ५८/१-३
२. कौ०अ० ५/५; १/८
३. सर्वाविद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोकाराजधर्मेप्रविष्टाः।
सर्वे धर्मा राजधर्म प्रधानाः। म०भा०शां० प ६३/२५,२६

राजा के द्वारा किए गए कर्तव्यों को धर्म कहा गया है-ऐसा मनु के एक व्याख्याकार मेधातिथि ने लिखा है। उन्होंने स्पष्टरूप से संकेत किया है कि धर्म शब्द कर्तव्यवाचक है। अर्थात् राजा अपने लिए निर्धारित जो कर्तव्य करता है, वे धर्म हैं[१]। राजा के जो कर्तव्य रूप धर्म होते हैं वे कुछ तो प्रत्यक्ष होते हैं अर्थात् जो प्रजा को दिखाई देते हैं और कुछ अप्रत्यक्ष होते हैं जो प्रजा को दिखाई नहीं देते हैं। इस आचार्य ने यह भी लिखा है कि राजनीति के नियम धर्मशास्त्र के धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर नहीं बने हैं अपितु इन नियमों का ग्रंथन सांसारिक कार्यों के अनुसार हुआ है।

यद्यपि कुछ समय तक ऐसी स्थिति थी कि राजा पर नियन्त्रण करने वाली सभा और समितियाँ भी क्षीण सी हो गई थीं किन्तु राजा पर धर्म पालन का दबाव इतना अधिक रहता था कि वह चाहकर भी अनियन्त्रित नहीं हो सकता था। मनु और याज्ञवल्क्य ने यह संकेत किया है कि दण्ड एक दैवी शक्ति है और यदि राजा अन्यथा आचरण करता है तो वह दण्ड राजा के ऊपर भी आ सकता है[२]। अन्य अनेक आचार्यों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राज्य एक पवित्र धरोहर है और इसका ठीक-ठीक संचालन करना राजा का धर्म है।

वाल्मीकि रामायण में श्रीराम द्वारा सीता के परित्याग को इसी अर्थ में देखा गया है जिसमें अग्नि परीक्षा देने पर भी प्रजा के द्वारा दूसरे के घर पर रहने के कारण उनकी मर्यादा को धर्म विरुद्ध माना गया और राजा राम ने प्रजा के मत को मान्यता देते हुए सीता को वनवास दे दिया।

उपनिषदें तो इस सम्बन्ध मे यह लिखती हैं कि धर्म से बढ़कर और कुछ नहीं है[३] इसलिए प्रजा के हित चिन्तन में अनुरक्त रहने वाले राजा को सदा ही धर्म का पालन करना चाहिए; क्योंकि वह अपने आपको धर्म से पृथक् नहीं कर सकता।

---

१. मनु०स्मृ० पर (७/११) मेघातिथि
२. मनु०स्मृ० ७/१९; या०स्मृ० १/३४५-३५६
३. बृ० उ० १/४/११-१४

राजा के धर्म का स्वरूप जानते समय हम यह जान सकते हैं कि राजा दो तरह से अपने धर्म का सम्पादन करता था। प्रथम रूप से राजा देवों तथा अदृश्य शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए पुरोहितों तथा याज्ञिकों की सहायता से कार्यशील रहता था और शास्त्रोक्त रीति से धर्म की रक्षा करता था। दूसरे उसके कर्तव्य रूप धर्म वे थे, जिसमें वह राज्य की सम्पत्ति बढ़ाता था तथा अकाल आदि विपत्तियों के समय प्रजा की रक्षा करता था और न्याय की दृष्टि से सबका पालन करता हुआ आक्रमणों आदि से धन की रक्षा करता था[१]।

आचार्य कौटिल्य ने राजा के लिए जिन धर्मों के पालन का कथन किया है उसके अनुसार उसे व्यक्तिगत और समाजगत सभी प्रकार के धर्म का पालन करना होता था।

राजा के प्रति कौटिल्य एक प्रकार से बहुत बड़े कठोर नियमों के हिमायती हैं। वे यह कहते हैं कि राजा सत्कुल में उत्पन्न हो, द्वेष बुद्धि वाला न हो, धार्मिक आचरण करने वाला हो, कृतज्ञ और सद् विचारों वाला हो। वह शास्त्र के उपदेश सुनने की क्षमता रखता हो और शास्त्रों में जो ज्ञान दिया गया है, उसे धारण रखने की क्षमता रखता हो[२]। उसे अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहिए। वह ऐसे अर्थ का सेवन करे, जो धर्म से समन्वित हो। धर्म विहीन अर्थ कल्याणकारी नहीं होता है।

राजा के कर्तव्य रूप धर्म हैं यज्ञ सम्पादित कराना, प्रजा का पालन करना, न्याय की व्यवस्था करना, दान देना और शत्रु एवं मित्र से उचित व्यवहार करते हुए प्रमुख विद्वानों से सहयोग लेकर उन जैसे विद्वानों को उचित स्थान पर नियोजित करना[३]।

यदि राजा क्षत्रिय है तो उसे शक्तियों के लिए निर्धारित कर्तव्य तो करने ही हैं; क्योंकि वे उसके लिए वैयक्तिक कर्तव्य हैं[४]।

---

१. गौ०ध०सू० ११/१५-१७; याज्ञ० १/३०८
२. कौ०अ०, पृ० २३-२४
३. वही, पृ०७७
४. वही, पृ० १२

इसी प्रकार से राजा आश्रमगत धर्मों का पालन भी करता था क्योंकि जब तक वह गृहस्थ धर्म में था, प्रजा के और अपने परिवार के लिए अपने कर्तव्य रूप धर्म का पालन करता ही था। जब राजा गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम में जाता था तब वह उस आश्रम के लिए निर्धारित कर्तव्य रूप धर्मों का पालन करता था।

इसके अतिरिक्त जो सामान्य धर्म कहे गए हैं, और जो एक प्रकार से मनुष्य के श्रेष्ठतम् गुण हैं; राजा उनका पालन भी यथावत करता था। उन गुणों में सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, असूयादि का कथन किया गया है। क्योंकि ये धर्म तो मनुष्य मात्र के लिए आचरणीय हैं, इसलिए राजा को भी इनका पालन करना होता था[१]।

कौटिल्य कहते हैं कि राजा को अन्य सभी अपने कर्तव्य रूप धर्मों का पालन करते हुए भी उसका यह भी कर्तव्य कि वह प्रजा को धर्म और कर्म के मार्ग से भ्रष्ट न होने देवे। क्योंकि जो राजा अपनी प्रजा को धर्म और कर्म से भ्रष्ट नहीं होने देता वह इस लोक में सफल होता है तथा परलोक में सुख पाने का अधिकारी होता है[२]।

इस रूप में कौटिल्य राजा के लिए जिस रूप में धर्म का पालन करने का निर्देश करते हैं उसके अनुसार वह वैयक्तिक धर्म के साथ-साथ सामान्य धर्म का भी पालन करे और वह इस लोक में सफल होता है तथा परलोक में सुख पाने का अधिकारी होता है[२]।

इस रूप में कौटिल्य राजा के लिए जिस रूप में धर्म का पालन करने का निर्देश करते हैं उसके अनुसार वह वैयक्तिक धर्म के साथ-साथ सामान्य धर्म का भी पालन करे और वह स्वयम् का धर्म पालन करने के साथ ही प्रजा से भी धर्म का पालन करावे क्योंकि धर्म ही मनुष्य का परम कर्तव्य है।

---

१. कौ० अ०, पृ० १४

२. तस्मात् स्वधर्म भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति।। कौ०अ०, पृ०१४

प्रजा का धर्म

आचार्य कौटिल्य का यह मानना है कि पवित्र आर्य मर्यादा में अवस्थित, वर्णाश्रम धर्म में नियंत्रित और त्रयी धर्म से रक्षित प्रजादुखी नहीं होती। ऐसा करते हुए अर्थात् त्रयी में वर्णित धर्म का पालन करती हुई प्रजा कभी दुःख की भागीदार नहीं होती। इसलिए कौटिल्य, जो अर्थ को महत्त्वपूर्ण बताते हैं, और यहाँ तक लिखते हैं कि धर्म के मूल में अर्थ है और अर्थ पर ही धर्म और काम आधारित है[१], धर्म को पर्याप्त महत्त्व देते हैं और यह लिखते हैं कि प्रजा तभी सुखी रह सकती है जब वह अपने धर्म का पालन करे।

आचार्य कौटिल्य जब विद्याओं के प्रस्ताव का प्रारूप देते हैं तो वे त्रयी अर्थात् वेदों में निरूपित धर्म के विषय में यह लिखते हैं कि यह धर्म चारों वर्णों, चारों आश्रमों को अपने-अपने कर्तव्य रूप धर्म में स्थित रखने के कारण लोक का बहुत उपकारक है[२]। अर्थात् लोक के जो लोग वर्णों के रूप में अपने-अपने कर्तव्यों पालन करते हैं और विधि विहित व्यवस्था के अनुसार उनमें संलग्न रहते हैं, वे अपने व्यक्तिगत जीवन में सुख का अनुभव करते हैं। और इसी तरह से जो सत्य, अहिंसा, दया, दान आदि सामान्य धर्म का आचरण करते हैं, वे भी आनन्द का अनुभव करते हैं। इस रूप में प्रजा अर्थात् लोक जन व्यक्तिगत धर्म और सामान्य धर्म के पालन से व्यक्तिगत आनन्द का अनुभव तो करते ही हैं, सामाजिक व्यवस्था और सौहार्द में भी अभिवृद्धि करते हैं। यह कौटिल्य का संकेत है और इसी रूप में प्रजा के लिए धर्म का कथन किया गया है।

---

१. कौ०अ०, पृ० २४
२. एष त्रयी धर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः। वही, पृ० १२

धर्म और समाज

महाभारतकार महर्षि व्यास ने यह लिखा है कि धर्म से सम्पूर्ण प्रजा बंधी हुई है। सबको धारण करने के कारण ही उसे धर्म कहा जाता है। इसका नाम धर्म इसलिए पड़ा है क्योंकि यह सबको धारण करता है, अधोगति में जाने से बचाता है और जीवन की रक्षा करता है। धर्म सम्पूर्ण प्रजा को धारण करता है और जीवन की रक्षा करता है। धर्म सम्पूर्ण प्रजा को धारण करता है जिससे जीवन की रक्षा होती है[१]। एक दर्शन वैशेषिक दर्शन में यह कहा गया है कि जिससे लोक में अभ्युदय हो और पारलौकिक निःश्रेयस् की प्राप्ति हो, वह धर्म है[२]। महर्षि याज्ञवल्क्य सदाचार को धर्म कहते हैं तो एक विद्वान् सामान्य धर्म, असाधारण धर्म, विशेष धर्म, आपद धर्म के रूप में धर्म के चार स्वरूपों की चर्चा करते हैं और लिखते हैं कि प्राणिमात्र के लिए जो कल्याणकारी नियम हैं, वे मनुष्य के सामान्य धर्म हैं। जहाँ धर्म के दो रूपों में विरोध हो वहाँ काल और परिस्थिति के अनुरूप नियमों का व्यवहार करना असाधारण धर्म है। वर्ण और आश्रम के अनुसार निर्दिष्ट नियमों का पालन करना विशेष धर्म है। और आपत्ति के समय प्राण रक्षा करना आपद् धर्म है[३]।

धर्म की इस सीमा में यदि कौटिल्य कालीन समाज की स्थिति का संकेत किया जाए और यह देखा जाए कि आचार्य कौटिल्य समाज के लिए किस रूप में धर्म का निर्देश करते हैं तो हम यह देख सकते हैं कि आचार्य विशेष धर्म और सामान्य धर्म का कथन करके यह कहते हैं कि इसका पालन करने से व्यक्ति इस लोक में और परलोक में सुख का अनुभव करता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कौटिल्य समाज के लिए इस प्रकार के धर्म के पालन को महत्त्व पूर्ण और अनिवार्य मानते हैं जो वर्णों और आश्रमों के लिए कर्तव्य रूप हैं।

---

१. म०भा०, शां०, पृ० ६६/५८
२. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः सधर्मः। वै०द० १/२
३. वै०सा०सं०द०, पृ० १५६

क्योंकि इसका आचरण करने से सभी सहज भाव से ही अपने-अपने कर्तव्यों के पालन करने में सावधान रह सकते हैं। जहाँ तक सामान्य धर्म से समाज के स्वरूप का सम्बन्ध है तो इसमें भी आचार्य का यह संकेत है कि प्रजा जब तक सद्गुणों रूपी धर्म का पालन नहीं करेगी, तब तक प्रजा सुखी नहीं हो सकती है और न प्रजा का वैयक्तिक जीवन पवित्र हो सकता है। व्यक्ति की शुचिता के लिए यह आवश्यक है कि वह सत्य, अहिंसा, दया, दम, आदि जैसे सद्गुणों का पालन करते हुए अपना जीवन पवित्र रखे। आचार्य कौटिल्य प्रजा के लिए तो ऐसा चाहते ही हैं, वे राजा के लिए भी ऐसी ही कठोर स्थिति का कथन करते हैं जिसमें राजा लोभी न हो, इन्द्रिय लोलुप न हो और कामाचारी न हो। इस तरह कौटिल्य एक धर्ममय समाज के गठन के पक्षपाती हैं।

आचार्य कौटिल्य आपत्कालिक धर्म का भी संकेत करते हैं और राजा के कर्तव्यों में यह कहते हैं कि यह उसका कर्तव्य है कि जब प्रजा संकट में हो तो राजा उसकी आपत्कालिक रक्षा करे। और यह स्वाभाविक है कि जब राजा आपत्कालिक धर्म का पालन करेगा तो प्रजा भी ऐसा ही आचरण करेगी। और तब समाज धर्म को धारण करता हुआ एक श्रेष्ठ समाज बन सकेगा। आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा और प्रजा के लिए जो कहा गया है, वह धर्म का एक ऐसा स्वरूप व्यक्त करता है जो कर्तव्य रूप है और व्यक्ति के जीवन के सद्गुण रूप में भी है।

धर्म तथा मनुष्य-जीवन की शुचिता

सृष्टि की प्रक्रिया में मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसका जीवन व्यवहार अन्य प्राणियों की अपेक्षा विवेक से संचालित होता है। मनुष्य इसी कारण से मात्स्य न्याय की उस प्रवृत्ति से छुटकारा पाता है, जिस प्रवृत्ति से संचालित हर बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है और उसके जीवन जीने के अधिकार को खत्म कर देती है। मनुष्य भी कभी इसी प्रकार का रहा होगा और उसने जब ऐसा देखा होगा कि यह प्रवृत्ति मनुष्य के लिए उपयुक्त नहीं है और इससे मनुजता कलंकित होती है तो उसने राजा और राज्य व्यवस्था की कल्पना की। आचार्य कौटिल्य भी यह स्वीकार करते हैं कि राजा दीन-हीन और निर्बल की रक्षा करके समाज को सुरक्षित रखता है अन्यथा समाज को व्यवस्थित नहीं रखा जा सकता।[1]

किन्तु यह तो व्यवस्था बहुत बाद की है जिसमें राजा को रक्षक के रूप में और उसके नियमों को व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया गया, इसके पूर्व ही वेदकाल में कुछ ऐसी कल्पनाएँ की गई थीं जिन्हें ऋत और सत् का नाम देकर यह कहा गया था कि यह धर्म की अवधारणा है और इससे व्यक्ति का मानसिक विचार तथा उसके जीवन का व्यवहार पवित्र होता है। इसका हेतु यह है कि प्राचीन ऋषि ने तप से ऋत और सत् की कल्पना कीं[2]। तप शुचिता और सद्विचारों का जनक है। एक आरण्यक तो यह कहता ही है कि धर्म इसलिए शुचिता का हेतु है क्योंकि इसके पालन करने से प्रजा पाप से मुक्त हो जाती है। यह धर्म ही है जो सभी को प्रतिष्ठित करता है।

जहाँ तक कौटिल्य द्वारा वर्णित धर्म की व्यवस्था का प्रश्न है तो इसमें हम यह स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि वह दो प्रकार का कहा गया है। एक धर्म का रूप है वैयक्तिक अर्थात् विशेष धर्म और दूसरा इसका रूप है सामान्य धर्म।

---

१. भा०नी०वि०, पृ० ३६

२. तै०आ० १०/६३/७

वैयक्तिक धर्म अथवा विशेष धर्म का आख्यान आचार्य ने कर्तव्य रूप में किया है और यह कहा है कि सभी वर्णों और आश्रमों के लिए वेदत्रयी में जो धर्म कहे गए हैं उनका पालन करना सभी के लिए कल्याण प्रद है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इससे सभी अपने-अपने कर्तव्यों का पालन कर सकते हैं। इससे व्यक्ति की शुचिता का सम्बन्ध इस रूप में समझा जा सकता है जिससे वह अपना काम करता हुआ अपने व्यवहार में स्वच्छ और साफ रह सकता है। यही कर्तव्य पालन के रूप में उसके जीवन की शुचिता होगी।

धर्म का जो सामान्य रूप कौटिल्य ने दिया है, वह तो मनुष्य के आन्तरिक गुणों का एक ऐसा समूह है, जो मनुष्य के अन्तर मन को पवित्र करता ही है। सत्य, अहिंसा, क्षमा, अनसूया आदि ऐसे गुण हैं जो मनुष्य के द्वारा धारण किए जाने पर उसे मन से पवित्र बनाते हैं। इसलिए यदि कोई कर्तव्य रूप में अपने वर्ण के कर्तव्यों का पालन करता है, किसी आश्रम में रहकर उस आश्रम के लिए निर्धारित कर्तव्यों को पूरा करता है तो वह अपने कर्तव्य-पालन से ही स्वयं को पवित्र बनाता है और अपने-जीवन में सुख तथा शान्ति पाता है।

इसी तरह से यदि कोई सामान्य धर्म रूप सत्य, अहिंसादि मानसिक गुणों को धारण करता है तो वह अपने मन से शुचिता का अनुभव करता है और मानसिक शान्ति का अधिकारी बनता है। इसलिए हम अपनी प्राचीन परम्परा से और कौटिल्य के अभिमत से भी यह समझ सकते हैं कि धर्म मानव जीवन की शुचिता का एक मूल हेतु हो सकता है।

राजनीति और धर्म

ऋग्वेद सत्य और ऋत का कथन करते हुए कहता है कि पहले ऋत का आविर्भाव हुआ और बाद में सत्य का[१]। इसकी व्याख्या करते हुए एक आचार्य यह लिखते हैं कि जब नियम समष्टि में व्यापक रहता है तब वह ऋत कहा जाता है और जब वह तप के संयोग से अनेक केन्द्रों में विकीर्ण होकर विशिष्ट रूप में अभिव्यक्त होता है, तब वह सत्य कहा जाता है। इसलिए मनुष्य के व्यवहार में बार-बार ऋत का कथन न करके सत्य का कथन किया जाता है और यह कहा जाता है कि मनुष्य के सभी सम्बन्धों तथा अनुबन्धों का आधार सत्य ही होता है[२]।

इसी दृष्टि से जब अति प्राचीन काल में अर्थात् वैदिक काल में राजा की दिनचर्या और उसके कर्तव्यों का कथन किया गया तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उसे सत्य और ऋत के पालन का संदेश दिया गया। जहाँ राजा से अपेक्षा हुई कि वह पापियों को दण्ड देगा[३], चोरों से प्रजा की रक्षा करेगा[४], शासन विधान की प्रतिष्ठा करेगा[५] वहीं यह भी कहा गया कि वह ऋत की प्रतिष्ठा भी करेगा[६]।

उपनिषदें इस विषय में अधिक स्पष्ट हैं। उनमें यह कहा गया है कि राजा राज्य करने में तभी सक्षम हो पाता है जब वह विधि द्वारा शक्ति प्राप्त कर लेता है। राज्य इसलिए ही सशक्त है क्योंकि वह विधि से शक्ति-सम्पन्न होता है। एक उपनिषद् अधिक स्पष्टता के साथ यह कहती है कि ब्रह्म ने कल्याण प्रद रूप धर्म को उत्पन्न किया। जो यह श्रेयो रूप धर्म है, यही क्षत्रिय का नियामक है। इसलिए धर्म से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। जो सत्य बोलता है, वह धर्म बोलता है इसलिए बोलने वाले को कहते हैं कि यह सत्य बोलता है[७]।

---

१. ऋक् ७/८६
२.भा० नी०वि०, पृ०३६
३. ऋक् २/२८/७
४. वही २/२८/१०
५. वही १/२५/१०
६. वही ८/६/७
७. ई०द्वा०उ०, पृ० २८२

एक विद्वान् इस सम्बन्ध में अपना यह मत व्यक्त करते हैं कि जहाँ पहले ऋत के द्वारा व्यक्ति स्वयम् ही सामाजिक हितों का स्मरण करते हुए प्रयासरत रहता था, वहीं उपनिषदों ने उसे धर्म से नियन्त्रित किया। उपनिषदों में सामान्यत: धर्म और राजाज्ञा ही विधि के स्रोत हैं तथापि धर्म के अनुरूप आचरण की अपेक्षा राज्य को होती थीं[१]।

आचार्य मनु जब धर्म की व्यापकता की बात करते हैं तो वे यह लिखते हैं कि आत्मा की तुष्टि और सज्जनों के आचार को धर्म कहा जाता है[२]। इससे संकेत यह है कि सज्जनों का जो आचार-व्यवहार होता है, वह धर्म कहा गया है किन्तु आचार का सम्बन्ध आचरण से है और हमारा कौन सा आचरण उचित है और कौन सा अनुचित है- इसका विचार ही आचार का क्षेत्र है[३]। इसलिए वे विद्वान् राजनीति के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए यह लिखते हैं कि राजनीति में राज्य और शासन सम्बन्धी समस्याओं पर विचार होता है। किस प्रकार का शासन हो और किस प्रकार से प्रजा सुख तथा शान्ति से रह सके- यही प्रश्न राजनीतिक होते हैं तभी उनका फल समाज के अनुकूल होता है। इसीलिए कोई भी राज्य अनैतिक नहीं हो सकता[४]। और यही नैतिकता ही है जो धर्म के सादृश्य में कही जा सकती है। इसलिए प्राचीन समय से ही राज्य किसी नीति के आधार पर चलते रहे हैं और उसे ही धर्म का आधार भी कह दिया गया है क्योंकि इसका सम्बन्ध आचरण से भी रहा है।

---

१. उ०स०सं०, पृ०४१
२. म०स्मृ० २/६
३. प्रा०आ०शा०, पृ० २
४. वही, पृ० १८-१९
५. भा०नी०वि०, पृ० ७२

महाभारत महाकाव्य इस दृष्टि से यहाँ उदाहरणीय है क्योंकि इसमें धर्म और राजा की राजनीति पर स्पष्ट रूप से कहा गया है। एक स्थान पर ऋजुता, सर्वभूतदया, अतिथि-सेवा, सत्य, शान्ति, अद्वेष आदि का परिगणन करते हुए इन्हें ही नैतिक गुण के रूप में कहा गया है जो धर्म के भी घटक हैं। धृतराष्ट्र दुर्योधन को सम्बोधित कर एक स्थान पर कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति नैतिक गुणों के बिना समृद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। शील ही धर्म है और यही सत्य, व्रत और समृद्धि का मूल है[१]।

सामान्य धर्म और नीति के अतिरिक्त वहाँ युद्ध के नैतिक नियमों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है और कहा गया है कि क्षत्रियों के सैनिक विधान का वर्णन धर्म अथवा नीति की रक्षा के लिए ही किया गया है[२]।

महाभारत का शान्ति पर्व राजा की राजनीति का वर्णन राजधर्म के रूप में करता है। वहाँ पर लिखा है कि राजा को उच्च नैतिक नियमों का पालन करना चाहिए क्योंकि प्रजा भी राजा का ही अनुकरण करती है। इसलिए राजा के द्वारा जो प्रशासन किया जाए, वह नीति के आधार पर ही किया जाए, जिससे धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति हो सके। राजा को दण्ड देने का अधिकार है किन्तु वह दण्ड भी ऐसा हो जो किसी नीति पर आधारित हो। जो राजनीति पूर्वक प्रजा का पालन नहीं करता और अर्थ प्राप्ति के लिए केवल प्रजा को पीड़ित करता रहता है, वह चोर है और उसकी दण्डनीति निन्दनीय है[३]। इस रूप में वहाँ विस्तार से राजा के लिए नीति रूप धर्म का पालन कर उसे राजनीति संचालित करने का निर्देश है।

---

१. म० भा०शां० प० १२४/६०
२. वही, ३४/४
३. वही ५७/४२

आचार्य कौटिल्य भी इसी परम्परा के समर्थक दिखाई देते हैं। वे एक ओर जहाँ धर्म की व्याख्या क्रियात्मक रूप में और मनुष्य के सद्‌गुणों के रूप में करते हैं, वहीं वे राजा के लिए भी सभी विधानों का विधान करते हुए दीखते हैं। राजा यदि क्षत्रिय है तो वह क्षत्रिय-कर्तव्यों का पालन करेगा ही और यदि वह किसी अन्य रूप से अपना कार्य करता है तो प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं करेगा। दूसरी बात यह है कि राजपद पर बैठने के बाद प्रजा रक्षण, दान, यज्ञादि के जो दायित्व उसके लिए हैं, वे उसके लिए धर्म रूप हैं। वह उनका सम्पादन करता हुआ धर्म का पालन करता है और यही उसकी राजनीति है।

आचार्य कौटिल्य ने सामान्य धर्मों में नियमों का जो उल्लेख किया है[१], उनका पालन करना भी राजा के लिए आवश्यक होता है। तभी वे राजा के लिए इन्द्रियजयी होना कहते हैं और यह लिखते हैं कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मानादि के त्याग से इन्द्रियजय होता है। जो राजा अपने कर्तव्यों के विपरीत आचरण करता है और इन्द्रिय लोलुप होता है, उसका राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है[२]।

राजा प्रजा के प्रति कितना सदय हो, इसके लिए कौटिल्य ने यह निर्देश किया है कि वह अधिक अर्थ की कामना न करके प्रजा द्वारा निर्धारित कर लेकर उसके योग-क्षेम की रक्षा करे[३]।

इसलिए प्रतीत यही होता है कि कौटिल्य के मत से राजा की राजनीति धर्म परक इसलिए होनी चाहिए कि इससे लोक कल्याण होता है और राज्य में सुख-शान्ति रहती है।

---

१. कौ०अ०, पृ० १४
२. वही,पृ० २१
३. वही, पृ० ४५
४. वही, पृ० १६

धर्म से संचालित राजनीति

यह सर्व स्वीकृत तथ्य है कि प्राचीन भारत में धर्म व्यक्ति के जीवन में सर्व स्वीकृत रहा है इसलिए समाज के सफल संचालन तथा राजनैतिक जीवन के लिए यह आवश्यक रहा है कि राजा भी धर्म से संचालित दृष्टि से ही अपनी राजनीति करे। इसी दृष्टि से प्राचीन विचारकों ने राजा के लिए अपना राज्य संचालन के लिए जो दिशा निर्देश दिए हैं, वे धर्म का अनुकरण करने के बार-बार आग्रह करने वाले हैं। जैसे कि प्राचीन धर्मसूत्रों में कहा गया है कि राजा सभी प्राणियों की रक्षा करे, सभी के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था करे, सभी वर्णों, आश्रमों के लिए उनके लिए निर्धारित कर्तव्यों पर चलने का निर्देश करे। जो कोई अपने कर्तव्य पथ से च्युत हो, उसका उत्थान करे[१]। इसी प्रकार महाभारत का यह कथन है कि राजा दुष्टों का दमन करे, साधुओं की रक्षा करे, प्रजा को सत्पथ पर चलावे और धर्मानुसार व्यवहार करे[२]। जो धर्मपूर्वक राज्य शासन करता है वह लोक की आराधना करता है और स्वयम् भी प्रकाशित होता है।

एक विद्वान् का यह मत है कि पूर्ववर्ती राजकर्म में धर्म की प्रधानता अवश्य थी किन्तु धर्म का प्रचार-प्रसार करने के साथ-साथ स्वयम् भी धर्म का राज्य चलाने वाले राजा कम ही थे। वे अशोक का नाम प्रमुखता से लेते हैं और यह लिखते हैं कि उसने धर्म के अनुसार काम करना, धर्म से सुख पाना, धर्म से रक्षा करना अपना कर्तव्य माना। इसके लिए उन्होंने अशोक के शिलालेखों और फ्लीट के शिलालेख संग्रह का उदाहरण दिया है[३]।

---

१. गौ०ध०सू० ११/६-१०; वि०ध०सू० २/३
२. म०भा०शां० प० २१/१३-१४
३. प्रा०भा०सा०सां०भू०, पृ० ५१८-५१६

एक विदेशी विद्वान् का संकेत यह है कि सम्राट हर्ष का दिन का समय बटा हुआ था जिसमें से उसके तीन भागों में से एक भाग अन्य कामों के लिए होता था और दो भाग धर्म कार्य के लिए होते थे[1]। वह उच्चकोटि के विद्वानों को दान देता था और विविध धार्मिक संस्थाओं की सहायता करता था[2]।

कौटिल्य स्वयम् ही राजा के विषय में यही लिखते हैं कि वह पूर्णतः धर्म का पालन करे और प्रजा से भी धर्म का पालन करावे। वे यह लिखते हैं कि वह चतुवर्णाश्रमों के धर्मों का रक्षक है अर्थात् उनसे उनके कर्तव्यों का पालन कराने वाला है और लोक रक्षण करने वाला है। जब सभी धर्म नष्ट होने वाले होते हैं तो राजा ही ऐसा होता है जो धर्म का प्रवर्तक है अर्थात् वही धर्म का प्रवर्तन करने वाला है[3]।

वह दण्ड की व्यवस्था इसीलिए करता था जिससे कि वह धर्म का प्रवर्तन कर सके। वह ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रिय आदि को भूमिदान करता था और जो बृद्ध, व्याधिग्रस्त होते थे उनका पालन-पोषण करता था[4]।

इस रूप में हम यह कह सकते हैं कि राजा अपना पूरा जीवन धर्म के अनुरूप चलाता था और इसीलिए उसकी राजनीति भी धर्मानुरूप ही होती थी। उस राजनीति से उसका लक्ष्य होता था, प्रजा का संरक्षण और इसी के द्वारा राज्य का संवर्धन करना। यही प्राचीन विचारकों और कौटिल्य का भी दृष्टिकोण है।

---

१. ह्वे० (१), पृ० ३५४
२. वही, पृ० १७६ ; हि०पु०स०, पृ० ३७४-३७५
३. चतुर्वर्णाश्रमस्यास्यं लोकस्याचार रक्षणात्।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्तकः।। कौ०अ० ३/१
४. वही ३/१६

धर्म हीन राजनीति के सन्दर्भ

यद्यपि प्राचीन भारत में धर्म को महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में सदा कहा है और यह भी कहा गया है कि प्रजा उसी प्रकार का आचरण करती है जिसका आचरण राजा करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि राजा सदा धर्म का जीवन जिए और धार्मिक राजनीति से प्रजा का पालन करे जिससे प्रजा भी धर्मानुसार ही आचरण करती रहे। किन्तु राजनीति में धर्म के उल्लंघन के अनेक सन्दर्भ देखे जा सकते हैं। ऐसे उदाहरण जातक ग्रन्थों में मिलते हैं जिनमें यह संकेत है कि अनेक राजा व्यक्तिगत जीवन में दुर्व्यसनी थे और समाज के परिपालन में भी धर्म का ध्यान नहीं करते थे। नीति और सिद्धान्त के जीवन से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं होता था और द्यूत आदि के खेलने में उन्हें कभी संकोच नहीं होता था। कुछ राजा इस प्रकार से अपना जीवन व्यतीत करते थे जिनके जीवन में कामुकता अधिक होती थी। वे अन्य स्त्रियों को अपने वश में करने के लिए और उनसे कामुकता पूर्ण व्यवहार करने के लिए उत्सुक रहते थे तथा उन्हें अपने वश में करने के लिए प्रयत्नशील होते थे। वे अपने मनोरंजन के लिए किसी भी प्राणी को पीड़ित करने में भी संकोच का अनुभव नहीं करते थे[१]। यद्यपि जो राजा कामी, क्रोधी और प्रजा पीड़क होते थे वे प्रजा और समाज में बहुत प्रतिष्ठित नहीं होते थे क्योंकि प्रजा ऐसे राजाओं के खतम हो जाने पर सार्वजनिक रूप से मनोविनोद करती थी[२]। यह प्रजा का स्वभाव संभवत: प्राचीन भारत की परम्परा का वह प्रभाव था जिसमें धर्म को और धर्माचरण को अधिक महत्त्व दिया गया है।

---

१. के० सी०, जा० २०२
२. म०कु० जा०

राजा के लिए प्राचीन समय में जब आपद्धर्म का कथन किया गया है तब उसके लिए कुछ ऐसे नियमों के सम्पादन में छूट दी गई है जो धर्म विरुद्ध कहे जा सकते हैं। महाभारत में कहा गया है कि आन्तरिक आपत्ति के समय अथवा वाह्य आपत्ति के समय यदि राजा धर्म के अनुसार कर्म करता है तो अपने जीवन में संकट पाता है और यदि धर्म का विरोध करके वह कोई कार्य करता है तो वह अपयश का भागीदार बनता है। फिर भी महर्षि वेद व्यास का यह कथन है कि ऐसी स्थिति में राजा धर्म के विरुद्ध जाकर आपद् धर्म का निर्वाह कर सकता है, इससे उसे बाद में शक्ति प्राप्त होगी[१]।

इसी प्रकार से यह भी कहा गया है कि राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य की रक्षा करे किन्तु इसके लिये धन और सेना की आवश्यकता होती है इसलिए वह आवश्यकता आने पर धर्म विरुद्ध रीति से भी धन संग्रह करके सेना का संगठन खड़ा कर सकता है अन्यथा उस का राज्य खतरे में पड़ जाएगा। क्योंकि राजा का कोश उसके बल का मूल है और बल से ही कोश और राज्य की रक्षा होती है। राज्य रक्षा ही स्वधर्मों का मूल है। इसलिए येन केन प्रकारेण राज्य की रक्षा करना धर्म है[२]। इसलिए राज्य अथवा प्रजा यदि संकट में हो तो राजा अपने कोष को बढ़ाने के लिए प्रजा से अतिरिक्त कर संग्रह कर सकता है और यह धर्म विरुद्ध कार्य होते हुए भी उसे दोषी नहीं होने देगा।

---

१. म०भा०शां० प० १३०/२५
२. राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः।। वही १३०/३५

महाभारत में भीष्म संकटकाल में राजा को प्रजा के प्रति कर्तव्य बताते हैं और यह कहते हैं कि प्रजा का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे समय में राजा का साथ दे। ऐसी घड़ी राजा के लिए परीक्षा की घड़ी है और इसमें सामान्य नियम शिथिल कर दिए जाते हैं। भीष्म यद्यपि आपद्काल में धर्म विरुद्ध राजा के कार्यों को स्वीकृति देते हैं तथापि वे इन्हें धर्म विरुद्ध ही मानते हैं[१]। आधुनिक कालीन विचारक भी ऐसा भी व्यक्त करते हैं जिसमें वे यह कहते हैं कि विशेष परिस्थितियों में नैतिक नियम और परम्पराएँ स्थगित रहती हैं[२]।

युद्ध के काल में तो ऐसे राजनीतिक व्यवहार दिखाई देते हैं जिनका दूर-दूर से धर्म का सम्बन्ध नहीं होता। महाभारत में तो नियम विरुद्ध युद्ध करने के लिए अनेकों उदाहरण हैं।

आचार्य कौटिल्य भी यद्यपि धर्म को जीवन में बहुत महत्त्व देते हैं और राजा के लिए भी धर्म के आचरण पर पर्याप्त बल देते हैं किन्तु वे अपनी रक्षा के लिए और राज्य की रक्षा के लिए राजा को धर्म विरुद्ध अनेकों ऐसे कार्य करने की सलाह देते हैं जिसे धार्मिक राजनीति कदापि नहीं माना जा सकता।

वे एक स्थान पर लिखते हैं कि जो राजा से सन्तुष्ट न हों उन्हें राजा धन देकर सन्तुष्ट करे। इस पर भी प्रसन्न न हों तो उनकी कलह करा दें और इस पर भी काम न बने तो उसकी मृत्यु की व्यवस्था करे तथा

---

१. म०भा० शां०प० १३०/८

२. It Muste be clearly understood that in days of distress all the ordinary rules of morality and customs are suspended. T.G.A.I., P. 55

प्रजा में निन्दा करवाकर उसे मरवा दें[१]। राजा के लिए यह करणीय है कि जो उसके अनुकूल न हो उसे अनुकूल करने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद नीति का प्रयोग करे[२]।

राजा के लिए तो यह भी आवश्यक है कि वह अपनी आत्मरक्षा के लिए अपने पुत्रों से सावधान रहे। पुत्रों से सावधानी के सन्दर्भ में कौटिल्य ने जो अन्य आचार्यों के मतों का संकेत किया है, वे तो बहुत ही अधार्मिक प्रतीत होते हैं क्योंकि इनमें राजा के पुत्रों को राज्य से दूर रखना, उन्हें कुसंगति के द्वारा इस प्रकार भ्रष्ट कर देना कि वे किसी लायक न रहें और मरवा देना तक सम्मिलित है। यद्यपि कौटिल्य इससे सहमत नहीं हैं और उनका मत है कि राजपुत्रों को सदा सुशिक्षित करना चाहिए और सुसंस्कृत करना चाहिए। ऐसा करने से ही राजा और राज्य सुखी होते हैं। वे तो अनेक राजकुमारों के होने पर ज्येष्ठ अथवा योग्य राजकुमार को राज्य देने की अनुशंसा करते हैं अथवा यह कहते हैं कि राजा के अनेक राजपुत्र होने पर सभी मिलकर राज्य कार्य देखें[५]।

इस प्रकार से हम यह तो कह सकते हैं कि तत्कालीन समय में राजा के लिए धर्ममय राजनीति करने का निर्देश था किन्तु धर्म विहीन राजनीति भी तब की जा सकती थी, यद्यपि उसके अवसर कम ही होते थे।

---

१. कौ०अ०, पृ०४६
२. वही, पृ० ४७
३. वही, पृ० ६४-७०
४. बहूनामेकसंरोधः पिता पुत्रहितो भवेत्।
   अन्यत्रापद ऐश्वर्यं ज्येष्ठभागि तु पूज्यते।।
   कुलस्य वा भवेद् राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः।
   अराजव्यसनाबाधः शश्वदावसति क्षितिम्।। वही, पृ० ७०

शिक्षा और राजनीति

समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए और इसको मात्स्य न्याय से बचाने के लिए प्रारम्भ से ही विचार होता आया है। इसलिए धर्म का आचरण करने के साथ-साथ जब अनुशासन से प्रजा को सत्पथ पर चलाने का सन्दर्भ आया तब नीति की शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। नीति में भी अन्य के अतिरिक्त दण्ड की व्यवस्था का आरम्भ से ही संकेत किया गया है। यद्यपि ऋक् और अथर्व आदि वेदों में दण्ड शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु वहाँ स्पष्ट नहीं हो सका है कि यह शब्द दण्डनीति के लिए ही है। ब्राह्मण ग्रन्थों में अवश्य दण्ड को राजा के लिए दण्डनीति कहा गया है और यह कहा गया है कि राजा दण्ड से ही प्रजा का अनुशासन करता है[१]।

उपनिषदें शिक्षा के जिन विषयों का संकेत करती हैं, उनमें एकायन विद्या को नीतिशास्त्र के रूप में कहा गया है[२]। यह सम्भवतः क्षत्रियों के लिए ही होती थी जो प्रजा की रक्षा में प्रवृत्त होते थे। राजाओं को उनका आचार-व्यवहार इसी के अन्तर्गत सिखाया जाता था। मैक्समुलर और मोनियर विलियम्स इसे नीतिशास्त्र तथा सांसरिक विद्या मानते हैं[३]। इसके अतिरिक्त धनुर्वेद की भी चर्चा उपनिषद् में की गई है और इसे भी आचार्य शंकर ने क्षत्र विद्या माना है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह विद्या भी क्षत्रियों के लिए ही थी, क्योंकि उन्हें ही प्रजा की रक्षा के लिए इसकी आवश्यकता होती थी[४]।

---

१. श०ब्रा० ५/४/४/७
२. एकायनं नीतिशास्त्रम्। छा०उ० शां०भा० ७/१/२
३. वै०इ०(१), ११६
४. क्षत्रविद्या धनुर्वेदम्। छा०उ०पर शां०भा० ७/१/२

स्मृतियाँ भी दण्डनीति को एक विद्या के रूप में स्वीकार करती हैं और राजा के लिए उसे शिक्षार्थ एक विषय के रूप में देखती हैं। आचार्य शुक्र का यह कथन है कि असदाचार का दमन दण्डनीति से ही सम्भव है। इसी से जन्तुओं का दमन होता है इसलिए ही दण्ड विद्या है। वे लिखते हैं कि नयनात् नीति इस व्युत्पत्ति के अनुसार नयनार्थ होने के कारण दण्डनीति है[१]। महर्षि मनु कहते हैं कि दण्ड ही सभी पर शासन करता है और दण्ड ही रक्षा करता है। सोते हुओं में दण्ड ही जागता है इसलिए दण्ड ही धर्म है[२]।

एक विद्वान् यह लिखते हैं कि दण्ड में शासन के गुण हैं इसलिए दण्ड नीति के साथ सम्बद्ध होने से यही दण्डनीति है। यही वह विद्या है जो अनुशासन अथवा शासन करने वालों के लिए विद्या के रूप में पढ़ाई जाती है और यही राजनीति में नीति शास्त्र है[३]।

महाभारत में अनेकों संकेत इस प्रकार के हैं जिनमें यह कहा गया है कि उस समय राजकुमारों के लिए अस्त्र-शस्त्र विद्या के अध्यापन की व्यवस्था थी। कर्ण ने भी आचार्य द्रोण, आचार्य कृपाचार्य और आचार्य परशुराम से अस्त्र विद्या सीखकर एक धनुर्धर के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी[४]।

कर्ण ने तो अपने आप को और अधिक अस्त्र-शस्त्र का ज्ञाता बनाने के लिए परशुराम का शिष्यत्व स्वीकार किया और असत्य बोलकर नैतिकता का परित्याग किया जिसे आधुनिक विद्वान् अनैतिक नहीं मानते[५]।

---

१. शु०नी० ४/४१; १/१५७
२. म०स्मृ० ७/१८
३. अ०रा०, पृ० १८
४. म०भा० कर्णपर्व ३०६/१६-१८
५. स०शा०,पृ० २६३

इसके अतिरिक्त महाभारत में इस प्रकार के और भी संकेत हैं जिनमें यह कहा गया है कि उस समय राजाओं को हस्ति-सूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र, धनुर्वेद सूत्र, यन्त्रसूत्र, नागसूत्र और विषयोग आदि का सतत अभ्यास करना पड़ता था[१]। इसी प्रकार यह भी संकेत है कि क्षत्रिय कुमार धनुर्वेद, गदायुद्ध, असिचर्म (जिसे ढाल-युद्ध) गज-शिक्षा और नीति-शिक्षा प्राप्त करते थे[२]।

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जो संकेत किए हैं उनके अनुसार राजकुमार सोलह वर्ष की अवस्था तक त्रयी, वार्ता और दण्डनीति की शिक्षा ग्रहण करता था। फिर वह रथ, घोड़े, हाथी आदि की सवारी भी सीखता और शस्त्रास्त्रों में निपुणता प्राप्त करता था[३]।

किन्तु राजा के लिए जिस विद्या की परम आवश्यकता होती थी और जो विद्या उसके राज्य संचालन में सहयोग कर सकती थी, वह दण्डनीति थी। इसकी शिक्षा प्राप्त करना राजा के लिए आवश्यक होता था। इसका कारण यह था कि यही विद्या एक ऐसी विद्या है जो अलब्ध का लाभ कराती है और जो लब्ध है अर्थात् प्राप्त हो चुका है, उसका परिरक्षण करती है। दण्डनीति से ही जो कुछ रक्षित है वह सर्वदा संरक्षित रहता है[४]।

इस रूप में यह देखा जा सकता है कि कौटिल्य कालिक समाज में राज्य संचालन के लिए जिस प्रकार के कौशल की आवश्यकता होती थी, उसका ज्ञान राजकुमारों को कराया जाता था किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञान भी उन्हें प्राप्त करने के लिए कहा जाता था।

---

१. म०भा० समापर्व ५/१०६-१११
२. म०भा० आदिपर्व १०२/१६-१८; बा०रा०बाल०का० १८/२५-२८
३. कौ०अ० १/४/१; १/५/८
४. अलब्धलाभार्थ लब्धपरिरक्षिणी रक्षितविर्वर्धिनी। वही १!४!६

कौटिल्य की समेकित दृष्टि

आचार्य कौटिल्य यद्यपि अपने ग्रन्थ का नाम अर्थशास्त्र रखते हैं किन्तु वे शिक्षा, धर्म, राजा, राज्य और राजनीति जैसे सभी विषयों पर अपने विचार इस ग्रन्थ में लिखते हैं। वे शिक्षा की अनिवार्यता सभी के लिए मानते हैं और अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का समादर करते हुए भी अपना मन्तव्य स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं। वे लिखते हैं कि शिक्षा केवल प्रजा के लिए ही नहीं अपितु राजा के लिए भी आवश्यक है। शिक्षा में भी यदि राजा के लिए राजनीतिक शिक्षा आवश्यक है तो उसके लिए वार्ता विद्या का ज्ञान भी अपरिहार्य है। शिक्षा से प्राप्त आचार-विचार वाली प्रजा और शिक्षित दृष्टिकोण से सम्बन्धित राजा ही राज्य के सुख-शान्ति के लिए समर्थ है।

यही स्थिति राजा और प्रजा के सन्दर्भ में कौटिल्य की धर्म के विषय में भी है। धर्म जहाँ प्राचीन समय से ही सभी के लिए पालनीय रहा है और प्रारम्भ से ही जहाँ यह कहा गया है कि धर्म ही मनुष्य का विशेष गुण है और विना धर्म की धारणा के वह मनुष्य नहीं रह सकता वहीं कौटिल्य ने धर्म की अवधारणा का स्वरूप निरूपित करते हुए उसे स्पष्ट रूप में इस प्रकार व्यक्त किया है जिसमें वह एक रूप में कर्तव्य रूप में कहा गया है और दूसरे रूप में वह सद्‌गुणों के रूप में कहा गया है। कर्तव्य रूप में कहने के लिए आचार्य ने उसे वर्ण तथा आश्रमों के कर्तव्यों में बांध दिया है और यह कहा है कि जो अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करता है। वह अपने धर्म का

पालन करता है। इस रूप में धर्माचरण सभी के लिए अनिवार्य है। किन्तु वही धर्म जब, सत्य, दया, क्षमा आदि के रूप में सभी के लिए कहा गया तो वह व्यापक और विराट हो गया। इसीलिए आचार्य धर्म को शिक्षा और राजनीति का एक प्रमुख कारक मानते हैं और ऐसा इंगित भी करते हैं कि शिक्षा और धर्म में, राजनीति और धर्म में बहुत अधिक पार्थक्य नहीं देखा जा सकता। यद्यपि कौटिल्य धर्मविहीन राजनीति के संकेत भी करते हैं किन्तु वेद के संकेत केवल राज्य संचालन की विवशता के लिए हैं। उनसे मानवीय मूल्यों का क्षरण नहीं होना चाहिए। यही कारण हैं कि कौटिल्य राजा की जीवनचर्या को इतना अधिक कस देते हैं जिसमें वह स्वच्छन्द होकर शासन न करने लग जावे और न ही प्रजा का पीड़क बन जावे। यही कौटिल्य की शिक्षा, धर्म और राजनीति की संतुलित दृष्टि है।
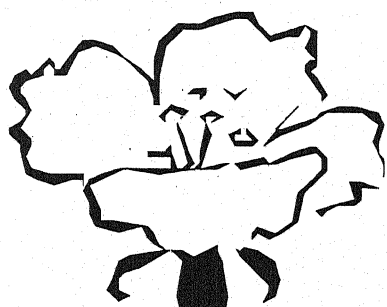
षष्ठ अध्याय

(वर्तमानकालिक सामाजिक एवं राजनैतिक अवधारणाओं का समीक्षात्मक स्वरूप)

षष्ठ अध्याय

(वर्तमानकालिक सामाजिक एवं राजनैतिक अवधारणाओं का समीक्षात्मक स्वरूप)

प्राचीन भारतीय समाज का स्वरूप, कौटिल्य कालिक समाज, वर्तमान कालिक समाज, प्राचीन एवं वर्तमान समाज, में साम्य वैषम्य, प्राचीन समाज और शिक्षा, तत्कालीन धर्म की अवधारणा, राज्य और धर्म, वर्तमान समय में धर्म निरपेक्षता, राजा तथा राज्य की प्राचीन अवधारणा के संकेत, वर्तमान शासकों के साथ साम्य-वैषम्य, कौटिल्य कालिक राजनीति का परिप्रेक्ष्य, समीक्षा एवं निष्कर्ष।

षष्ठ अध्याय

(वर्तमानकालिक सामाजिक एवं राजनैतिक अवधारणाओं का समीक्षात्मक स्वरूप)

प्राचीन भारतीय समाज का स्वरूप

वैदिक काल को इसलिए सभी स्थानों पर प्रामाणिक रूप से उद्धृत किया जाता है क्योंकि उसी समय का लिखित साहित्य हमारे पास उपलब्ध है। इसके पूर्व का इतिहास अनुमान पर तो आधारित हो सकता है किन्तु उसके प्रतिपादन के लिए लिखित प्रमाण पत्र देना सम्भव नहीं हो पाता।

इसलिए जब हम प्राचीन सामाजिक स्वरूप की अवधारणा के विषय में विचार करना चाहते हैं तो हम वेद और उपनिषद् ही इसके लिए प्रामाणिक रूप से उद्धृत कर सकते हैं। वेद, एक प्रकार के वे ग्रन्थ हैं जिनमें देवताओं की प्रार्थनाएँ, यज्ञों के विधान और समाज के प्रारम्भिक स्वरूप की आदिम अवस्था का संकेत मिलता है। इस रूप में तब सामाजिक संगठन में वर्ण व्यवस्था, पारिवारिक स्वरूप और परस्पर व्यवहार का संकेत तो किया गया है किन्तु वह स्पष्ट और सुदृढ़ स्वरूप में नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में समाज का विभाजन तो था किन्तु इसके लिए केवल एक-दो सन्दर्भ ही ऐसे हैं जो इसे स्पष्टता के साथ कहते हैं और चारों वर्णों के रूप में ग्रथित समाज का वर्णन करते हैं।[१] ऋग्वेद में तो इसके अतिरिक्त कहीं भी वैश्य और शूद्र शब्द का प्रयोग नहीं हुआ जिससे कभी-कभी यह कहा जाता है कि पुरुष सूक्त ऋग्वेद में बाद में जोड़ दिया गया है। ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्दों का प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है और अथर्ववेद में कई बार वैश्य और शूद्र शब्दों का प्रयोग किया गया है।[२]

---

१. ऋक् (दृष्टव्य पुरुष सूक्त)
२. ध.इ. (१), पृ. ११०

तब के समय में अर्थात् वेदकाल समाप्त होने तक जातियों का उद्भव अवश्य हो चुका था जो प्राय: व्यवसाय और शिल्प के आधार पर अपना नाम रखे हुए थीं। इसरूप में तब वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था (जिसमें चर्मन (चर्मकार) चाण्डाल, इषुकार, किरात, कुलाल, धनुष्कार, निषाद, रथकार) का प्रारम्भ होकर समाज एक आकार ग्रहण कर चुका था।[१]

उपनिषद् युग में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप लगभग निर्धारित हो चुका था और जातियाँ अपने-अपने व्यवसाय से प्रतिष्ठित थीं। एक विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि वर्णों का आधार तब सम्भवत: जन्मना था किन्तु आर्थिक आवश्यकताओं और सामाजिक सन्दर्भों में जाति प्रथा भी स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी।[२]

भारतीय समाज व्यवस्था में जाति व्यवस्था को लेकर अनेक पाश्चात्य विद्वानों और भारतीय विद्वानों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। इनमें से कुछ जाति व्यवस्था को प्रशंसात्मक रूप में देखते हैं और कुछ इस व्यवस्था को आलोचनात्मक रूप में देखते हैं। एक विद्वान् सिडनी लो ने अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए भारतीय जाति व्यवस्था के समर्थन में इसका कथन किया है और इस व्यवस्था को भारतीय समाज की एक सुदृढ़ व्यवस्था के रूप में देखा है।[३] एक अन्य विद्वान् भी ऐसा ही विचार रखते हैं जिसमें वे यह देखते हैं कि भारतीय वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था ने इस समाज को एक सुदृढ़ स्वरूप प्रदान किया है।[४] जबकि एक विदेशी विद्वान् भारत की जाति व्यवस्था को ठीक नहीं मानते[५] किन्तु स्वामी विवेकानन्द तो जाति उन्मूलन की बात को कोरी बकवास कहते हैं।[६]

---

१. ध.इ. (१), पृ. ११६-११७
२. उ.स.सं., पृ. ५३ से ५६
३ वि.आ.इ., पृ. २६२-२६३
४. यू.ए., पृ. ७२
५. हि.ट्रा.का., पृ. २९३
6. O.I.H.P., P. 77-78; 80

कौटिल्यकालिक समाज :

आचार्य चाणक्य ने स्वयम् भी राज्य व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी वर्ण व्यवस्था को माना है और इसकी व्याख्या में उन्होंने वर्णों के कर्मों को धर्म रूप में कहा है। वे वर्ण व्यवस्था के साथ-साथ आश्रम व्यवस्था को भी स्वीकार करके यह कहना चाहते हैं कि इससे सामाजिक व्यवस्था बनी रहने के साथ-साथ व्यक्ति के जीवन की एक विधि व्यवस्था भी बनी रहती है।[१] जहां वर्ण व्यवस्था से प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्म को धर्म मानकर उसका पालन करता है, वहीं आश्रम व्यवस्था में भी अपना कर्म करता हुआ एक दूसरे के लिए स्थान भी रिक्त करता जाता है। ब्रह्मचारी और गृहस्थ बनकर समाज के विकास में सहायक होता है जबकि गृहस्थ जीवन में अपना कर्म करते हुए आनन्द का उपभोग करके आने वाली पीढ़ी के लिए स्थान छोड़ता जाता है। अर्थात् गृहस्थ गृहस्थी अपने संतानों के लिए देकर वन में जाकर अपने जीवन का श्रेय पाने का प्रयत्न करता है।

इसके अतिरिक्त भी चाणक्य भिन्न-भिन्न जाति समूहों को समाज में देखते हैं और जहाँ सभी के लिए उनके कर्तव्यों का कथन करते हैं, वहीं वे राजा के द्वारा उन्हें संरक्षण देने का विधान भी करते हैं। एक ओर यदि वे ब्राह्मण, वैश्य, संन्यासी और तपस्वी को महत्व देकर समाज में उसकी विशिष्टता प्रतिपादित करते हैं तो दूसरी ओर वेश्याओं के लिए भी वे राज्याश्रय का विधान करते हैं।[२]

---

१. कौ.अ., पृ. १२-१३
२. वही, पृ. २५५-२५८

तत्कालीन समाज में पारिवारिक स्वरूप की सुदृढ़ता के भी पर्याप्त संकेत हैं, जिसमें यह कहा गया है कि परिवार समाज की एक ऐसी इकाई है जिस पर सम्पूर्ण समाज का ढाँचा टिका हुआ है। परिवार में माता, पिता-पुत्र-पुत्रियों की गणना कर तब इनके कर्तव्यों के कथन के साथ-साथ इनके महत्व को भी किसी न किसी रूप में कहा गया है और समाज के स्वरूप को इंगित किया गया है।

परिवार में पिता का जो स्वरूप था, वह गृहपति का रूप था और वह सम्पूर्ण परिवार के पालन-पोषण के लिए उत्तरदायी हुआ करता था। गृहपति के साथ ही साथ सभी सदस्य प्रेमपूर्वक रहें और पूरे समाज को एक दिशा दें ऐसा तो वेदों से ही प्रकट हुआ है। अथर्ववेद में यह चाहा गया है कि परिवार के सभी जन एकमत होकर रहें और परस्पर प्रेम करें। सभी मिलकर काम करें तथा उत्तम विचार वाले होवें।[१] यही संकेत उपनिषदों का भी है। बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है कि कौटुम्बिक प्रेम अपने लाभ के लिए ही है इसमें पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि का परस्पर सौहार्द होवे।[२]

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पृथक् से कोई पारिवारिक पृष्ठभूमि का अंकन तो नहीं है किन्तु राजा के व्यवहार में जो उसका प्रजा के प्रति दृष्टिकोण होना चाहिए, वह एक पिता जैसा ही होना चाहिए। जब पुत्रों से राजा की रक्षा की बात की गई है तो पुत्रों के बध कर देने जैसे कृत्यों की कौटिल्य ने निन्दा की और पुत्रों को सुसंस्कारित करने के लिए कहा है।[३]

इसी प्रकार से स्त्री के रूप में पत्नी और माँ के महत्व को उत्तराधिकार के नियमों में कौटिल्य ने पर्याप्त महत्व दिया है[४] और उन्हें परिवार की एक महत्वपूर्ण इकाई माना है, यही उनका समाज-दर्शन है।

---

१. अथर्व. ३/३०/१-५
२. बृह. २/४/५
३. कौ.अ., पृ. ६६-६७
४. वही, पृ. ३२०-३२५

वर्तमानकालिक समाज :

समाज का प्रारम्भ किस रूप में हुआ इसका इदमित्थं रूप में निरूपण कर पाना इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि इस विषय में अनेकों प्रकार के विचार हैं और सभी के अपने-अपने दृष्टिकोण हैं। भारतीय परम्परा ईश्वरवादी है और इस परम्परा के आधार पर यह कहा जाता है कि ईश्वर ही इस जगत् के आदि में है और उसी से यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह दृष्टिकोण क्योंकि पूरी तरह से आस्था पर आधारित है और तर्क नहीं किया जा सकता और न यह मानाजा सकता है कि इस प्रकार से समाज का विकास हो सका होगा। जो तर्कवादी हैं वे यह मानकर चलते हैं कि प्रारम्भ में कुछ एक जंगली जातियों के रूप में मनुष्य अकेले-दुकेले, नंग-धडंग होकर मांसाहार से अपना पेट पालता हुआ जीवन जीता रहा और बाद में धीरे-धीरे पारिवारिक सत्ता के विकास के साथ समाज का गठन हुआ। बाद में, जैसा कि हम इसके प्रारम्भ में देख चुके हैं वर्णों के रूप में सामाजिक स्वरूप ग्रथित हुआ और सामाजिक एवं वैयक्तिक सुरक्षा की अनुभूति से राजा से अनुशासित समाज संचालित होने लगा।

वर्तमान सन्दर्भ में हम यह देख सकते हैं कि स्वतंत्रता के बाद से हमारे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में दो तरह की विचारधाराएँ विकसित हुईं। एक वे जो प्राचीन वर्ण व्यवस्थाके विरुद्ध थीं और राजतन्त्र का विरोध करती थीं। इनमें सबसे अधिक मुखर साम्यवादी दिखे जो प्राचीन वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था और न केवल राजतन्त्र अपितु किसी भी प्रकार की पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ थे।[१]

---

१. मा.गां.सा.,पृ. ११७-११९

दूसरी ओर गान्धी, श्री अरविन्द, श्री दयानन्द सरस्वती और जवाहरलाल नेहरू जैसे विचारक थे जो प्राचीन परम्परा में संशोधन चाहते थे किन्तु वे इसके पूरी तरह से विरुद्ध नहीं थे। जैसे कि श्री अरविन्द पूँजीवाद के खिलाफ थे और पूँजी के एकत्रीकरण का विरोध करते थे। उनका विचार यह था कि सबके लिए समान अवसर तथा न्यूनतम सामाजिक एवं आर्थिक सुविधाओं की गारंटी सामाजिक संगठन का प्रशंसनीय आदर्श है।[१]

आचार्य दयानन्द सरस्वती, श्री महात्मा गांधी ऐसे विचारक हैं जो वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन के इच्छुक हैं किन्तु इसे पूरी तरह से उन्मूलित न कर इसकी विकृतियों को दूर करना चाहते हैं और जातिवादी प्रदूषण से समाज को मुक्त रखना चाहते हैं। श्री गांधी जी तो एक प्रकार से वर्ण व्यवस्था का समर्थन ही करते हैं। पर वे ऐसे समाज के संगठन को महत्व देते हैं जिसमें पारस्परिक प्रेम और सामंजस्य हो।[२]

नेहरू लोकतंत्र के समर्थक और समाज के उस स्वरूप के हिमायती थे जो वर्णवाद और जातिवाद से मुक्त हो तथा कृषकों, मजदूरों और दलितों का जिसमें उत्थान हो। वे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच वैमनस्य को ठीक नहीं मानते थे और उनके बीच परस्पर सौहार्द हो, इसकी इच्छा करते थे। उनके मन में भारतीय प्राचीन स्वरूप के प्रति आस्था थी किन्तु इसमें आती विकृतियों से वे मुक्त होना चाहते थे। राष्ट्र के ऐतिहासिक अवशेष और सांस्कृतिक प्रदेय उन्हें प्रिय थे।[३]

---

1. I.H.U., P. 28
२ आ.भा.रा.चि., पृ. ३५१
३. वही, पृ. ७६२

प्राचीन एवं वर्तमान समाज में साम्य-वैषम्य :

भारतीय समाज का इतिहास और इसका स्वरूप बहुत प्राचीन है। इसलिए व्यक्ति और समाज के स्तर पर इसमें समय-समय पर पर्याप्त संशोधन और परिवर्तन होते रहे हैं। यह हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि प्राचीन भारत में वर्ण और आश्रम की व्यवस्था पूरी तरह से लागू थी और इन्हीं व्यवस्थाओं के आधार पर कर्म का विभाजन भी तब किया गया था। आज की स्थिति में आश्रम व्यवस्था तो पूरी तरह से लगभग समाप्त हो चुकी है किन्तु वर्णव्यवस्था की छाया अभी भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के रूप में देखने को मिलती है। प्रारम्भ में भी जाति व्यवस्था को कर्म के आधार पर हम प्रवर्तित हुआ देख चुके हैं किन्तु इस समय समाज में जिस रूप में जाति व्यवस्था दिखाई दे रही है, वह इसलिए विकृतियों से युक्त है क्योंकि इसके पीछे कोई कर्म आदि का आधार नहीं है। अब जो जाति व्यवस्था देखने को मिल रही है, वह जन्म के आधार पर और छुआछूत वाली ही दिखाई दे रही है। यद्यपि शासन के स्तर पर जाति-उन्मूलन के और स्पृश्य-अस्पृश्य उन्मूलन के लिए नियम हैं किन्तु उनका परिपालन कठोरता से नहीं हो पाने से स्थिति विषम है।

धर्म, जिसे सम्प्रदाय कहा जाना चाहिए, इसके आधार पर भी समाज में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ हैं जबकि प्राचीन समय में सम्प्रदायों के रहते हुए भी इतना अधिक विषम वातावरण नहीं हुआ था। परिवार की जो प्राचीन व्यवस्था और जिसमें परिवार का समन्वय परस्पर सहयोग और त्याग की भावना से जीता था, वह भी पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित होकर छीज रही है और समाज उससे प्रभावित होकर विखर रहा है।

प्राचीन समाज और शिक्षा :

ज्ञान अपनी आधिभौतिक उपयोगिता के बल पर तो विश्व में सदैव प्रतिष्ठित रहेगा ही और अभी भी है किन्तु भारतीय दृष्टिकोण से ज्ञान की प्रतिष्ठा कुछ अन्य कारणों से भी थी। वैदिक दृष्टिकोण यह था कि ज्ञान के द्वारा मानव का सम्पूर्ण विकास हो जाता है और ज्ञान से सम्पन्न होने पर वह देवता बन जाता है।[१] जो ज्ञानी विद्वान् है वह समाज में आदर प्राप्त करता है।[२] व्यक्ति जन्म से ही तीन ऋणों से ऋणी होता है और उसका ऋषि-ऋण तभी चुकता है, जब वह ज्ञान प्राप्त करता है।[३] महाभारत में यह कहा गया है कि ब्राह्मण में पूज्यता ज्ञान से आती है।[४]

कौटिल्य की दृष्टि

आचार्य कौटिल्य भी शिक्षा को पर्याप्त महत्व देते हैं और वे विद्या के भेदों में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति को गिनते हैं। इनमें से आन्वीक्षिकी तर्कशक्ति के अभिवर्धन के लिए और त्रयी वेद-वेदाङ्गों की शिक्षा से सम्बन्धित है। यह मनुष्य की बुद्धि के विकास में सहायक है जिसे व्यक्ति तद् तद् विद्या के विशिष्ट आचार्यों से ग्रहण करता है। और दण्डनीति राजा के राज्य संचालन की मूल आधार है।[५] यही आचार्य कौटिल्य की शिक्षानीति है जिसके उद्देश्य में आचार्य यह कहते हैं कि शिक्षा सुपात्र को विनयी बनाती है।[६]

वर्तमान सन्दर्भ में शिक्षा को विनयशीलता अथवा नैतिकता के साथ सम्बद्ध करने का प्रयत्न लगभग नहीं हुआ। शिक्षा से रोजगार और रोजगार से जीवकोपार्जन प्राप्त करने तक सीमित रहने वाली शिक्षा वर्तमान जीवन में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न करती है और इसी से शिक्षा की व्यर्थता का आभास होने लगा है।

---

१. श.ब्रा. ३/७/३/१०
२. ऋक् १/१६४/१६
३. तै.सं. ६/३/१०/५
४. म.भा.आ.प.८४/२
५.कौ.अ.पृ. १०, १२,१५,१६,१७६. वही, पृ. १८

तत्कालीन धर्म की अवधारणा :

भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही धर्म की अवधारणा को लेकर विचार होता रहा है और इसे धारण करने के अर्थ में विवेचित किया जाता रहा है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है और इस धातु का अर्थ है धारण करना, आलम्बन देना अथवा पालन करना।[१] इससे यह संकेत लिया जा सकता है कि धर्म वह गुण-समूह है जो व्यक्तियों के द्वारा धारण किया जाता है अथवा व्यक्ति जिनका अवलम्बन लेकर अपने दायित्वों का पालन करते हैं। वेद में प्रारम्भ में धर्म शब्द को धार्मिक जाना गया और कहीं-कहीं इसे एक निश्चित नियम, व्यवस्था अथवा सिद्धान्त के लिए समझा गया।[२]

धर्म की यह प्रारम्भिक स्थिति में विस्तार तब हुआ जब उपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञ, अध्ययन और दान, तपस्या और ब्रह्मचारित्व ये धर्म के तीन अंङ्ग हैं।[३] धर्म के औपनिषदिक विचार से कुछ विचारकों ने इसे तीन आश्रमों से भी जोड़ने का प्रयत्न किया और यह मत व्यक्त किया कि यज्ञ, अध्ययन और दान का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से है, तप का सम्बन्ध तापसाश्रम से है और ब्रह्मचारित्व का सम्बन्ध ब्रह्मचारी से है। इस रूप में यह धर्म कर्तव्य रूप हो गया जिसमें सभी आश्रमवासी अपने-अपने आश्रमों में रहकर अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन करते हैं।[४] इस रूप में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि धार्मिक संस्कारों अथवा नियमों के संकुचित रूप से आगे बढ़कर धर्म का कर्तव्य रूप में कहे जाने का प्रयत्न हुआ।

---

१. ध.इ. (१) पृ. ३
२. ऋक् १/२२/१८; ९/६४/१; ५/६३/७; ७/८९/५
३. छान्दो. २/२३
४. ध.इ. (१), पृ. ४

स्मृतिकार धर्म को आचरण के रूप में ही देखने का प्रयत्न करते हैं इसलिए आचार्य मनु जब धर्म की व्याख्या करते हैं, तो यह लिखते हैं कि धर्म सम्पूर्ण वेदों से सम्बद्ध जो आचार है वह धर्म है और स्वयम् की आत्मतुष्टि का जो हेतु है- वह धर्म है।[१] महर्षि मनु ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धीरता, विद्या, सत्य और अक्रोध को धर्म के दस अंगों में गिना है।[२] इनका विचार करते हुए भी हम यह देख सकते हैं कि धर्म के ये दस अंग जहां व्यक्ति के लिए वैचारिक स्तर पर उसकी शुचिता को प्रकट करते हैं, वहीं इन्द्रिय-निग्रह और अस्तेय जैसे धर्म के अंग उसके जीवन के आचरण को उज्जवल बनाते हैं।

महर्षि मनु ने धर्म के विषय में जो लिखा है, उसके अनुसार वेद-धर्मशास्त्र, सज्जनों के आचरण अपनी आत्मा के अनुकूल उत्तम कार्य तथा विवेकपूर्ण संकल्प- ये सब धर्म के मूल में कहे गए हैं।[३]

धर्म की इस परिभाषा के साथ आचार्य याज्ञवल्क्य ने पवित्र देश में,समय पर विधिपूर्वक दिए गए स्वर्णादि के दान को धर्म का लक्षण कहा है जिससे स्पष्ट रूप से धर्म आचार रूप में प्रतिपादित हुआ है।[४]

---

१. म.स्मृ. २/६

२. धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। वही ६/९२

३. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यकसंकल्पजो कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।। या.स्मृ., पृ. ४

४. वही, पृ. ४

धर्म के सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य का मत बहुत ही स्पष्ट है और वे धर्म को वर्तमान रूप में मानते हैं। वे जब विद्याओं का विवेचन करते हैं तब त्रयी विद्या के परिचय में यह कहते हैं कि साम, ऋक्, यजु, यही त्रयी विद्या है। यह त्रयी विद्या और इसमें निरूपित धर्म चारों वर्णों, चारों आश्रमों को अपने-अपने धर्म में स्थिर रखने के कारण लोक का उपकार करने वाली है।[१] इसलिए वे जब वर्णों और आश्रमों के कर्तव्यों का कथन करते हैं तब वे उनके कर्तव्यों को धर्म रूप में कहते हैं। इसलिए वे ब्राह्मण के लिए धर्म रूप में अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह को कहते हैं। क्षत्रिय के लिए कर्तव्य रूप में जिस धर्म का कथन करते हैं, वह है अध्ययन, यजन और प्राणियों का रक्षण। इसी तरह से वैश्यों के लिए अध्ययन और याजन के साथ-साथ कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य का कथन करते हैं और शूद्र के लिए त्रिवर्ण की सेवा का विधानकर इसे धर्म रूप में प्रतिपादन करते हैं।[२]

आचार्य कौटिल्य जिस रूप से चारों वर्णों के कर्तव्यों का कथन करते हैं, वैसे ही वे चारों आश्रमों के कर्तव्यों का भी कथन करते हैं और ब्रह्मचारी के लिए अध्ययन पूर्वक ब्रह्मचर्य पालन, गुरुसेवा, गृहस्थ के लिए सुपात्र के साथ विवाह और देवतादि की पूजा, वानप्रस्थ के लिए वन की तपस्या और संन्यासी के लिए मुक्ति हेतु प्रयत्न करना उनका धर्म मानते हैं।[३] यही कर्तव्य रूप धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण है।

---

१. एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थानदौपकारिकः। कौ.अ., पृ. १२

२. वही, पृ. १२-१३

३. वही, पृ. १३

आचार्य कौटिल्य ने धर्म की कर्तव्य रूप व्याख्या के साथ ही धर्म को उस रूप में भी व्याख्यात किया,जो इसका रूप प्राचीन समय में सद्‌गुण रूप में कहा गया था और जिसे मनु ने धर्म के दस लक्षणों के रूप में निरूपित किया है। इस प्रकार के धर्म को वे सभी के लिए कहते हैं और इसका पालन सभी कर सकते हैं। धर्म के इस रूप मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, क्षमा और नृशंसता के परित्याग को कहा गया है जो सभी के लिए पालनीय है।[१]

आचार्य कौटिल्य धर्म को सामान्य नहीं मानते। वे मनुष्य जीवन में इसकी विशेष महत्ता इस रूप में स्वीकार करते हैं जिस रूप में वे यह कहते हैं कि धर्म स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। अर्थात् धर्म के पालन से व्यक्ति स्वर्ग पा सकता है किन्तु इसमें केवल इतना ही सामर्थ्य नही हैं कि वह स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति ही करा सके। वह व्यावहारिक जीवन में इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि धर्म के धारण न करने से वर्ण संकरता का दोष समाज में आ जाता है और अपने-अपने लिए निर्धारित कर्म के सम्पादन में भी व्यवधान पैदा होता है।[२] इसका अभिप्राय यह है कि धर्म के माध्यम से आचार्य कौटिल्य वर्ण व्यवस्था को और आश्रम व्यवस्था को भी प्रतिष्ठित हुआ मानते हैं क्योंकि वे इन दोनों व्यवस्थाओं को समाज में चलता हुआ और हितकारी रूप में देखना चाहते हैं। इसीलिए वे राजा को भी निर्देश करते हैं कि वह स्वयम् धर्म का पालन करता हुआ प्रजा से भी धर्म का पालन करावे।[३]

---

१. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमसूयानृशंस्यं क्षमा च। कौ.अ., पृ. १४
२. तस्यातिक्रमे लोकः सङ्करादुच्छिद्येत। वही, पृ. १४
३. वही, पृ. १४

यह बहु विदित है कि प्राचीन भारत में धर्म का अपना एक विशेष स्थान था और उसकी उपेक्षा करके मनुष्य का जीवन किसी भी प्रकार चलाया नहीं जा सकता। इसीलिए तब राज्य संचालन में धर्म भी एक महत्वपूर्ण कारक होता था और राज्य के लिए यह आवश्यक होता था कि वह धर्म के अनुरूप अपनी प्रजा का पालन करे और धर्म के अनुसार ही राज्य कार्य का संचालन करे। उपनिषद् तो इस प्रकार का संकेत स्पष्ट रूप से करती है जब वहां पर यह कहा जाता है कि राजा के सदृश निर्बल व्यक्ति बलवानों पर धर्म के द्वारा ही शासन करता हैं। जो धर्म संहिता काल में ऋत के रूप में प्रतिष्ठित था। ऋत से तब अभिप्राय था व्यवस्थित नियमों का विनियोग जिसे उत्तम गमन और निश्चित नियम भी कहते थे।[२] पूर्व में ऋत की अवधारणा से व्यक्ति स्वयं ही अपने सन्दर्भ में और सामाजिक नियमों के सन्दर्भ में बंधा रहता था, बाद मे यह धर्म के रूप में कहा गया और इसी से राजा, राज्य और प्रजा संचालित होने लगी। उपनिषदें धर्म के साथ राजाज्ञा को भी विधि की स्थापना में महत्वपूर्ण कारक के रूप में मानती हैं। धर्म लोक संग्रह वाला होता था और लोक के आचरण करने वाला माना जाता था।[३] राजा के लिए भी यह निर्देश होता था कि वह जो भी राजाज्ञा देगा, वह धर्मानुकूल होगी और धर्म विरुद्ध उसे कुछ भी करने का अधिकार नहीं होगा।

---

१. बृ.उ. १/४/१४
२. प्रा.भा.रा.न्या., पृ. ६-७
३. उ.स.सं., पृ. ४०-४१

राज्य संचालन के लिए धर्म को इसलिए महत्वपूर्ण रूप से माना गया है क्योंकि धर्म में विद्या, दान, तप और सत्य को समाहित माना गया है। अर्थात् विद्या धर्म की अंग है, दानधर्म का अंग है और सत्य धर्म का अंग है।[१] इसका अभिप्राय यह है कि धर्म से विद्या, दान, तप और सत्य की प्रतिष्ठा है और ऐसा धर्म यदि राज्य में भी स्वीकृत है तो वह कल्याणकारी ही है। इसीलिए सम्राट अशोक ने राज्य में जिस धर्मपालन की उद्घोषणा की थी, उसके अनुरूप पाप से दूर रहना, अच्छे काम करना, दया, दान, सत्य और पवित्रता का व्रत लेना धर्म है।[२] इसे राजा और प्रजा को पालन करना है।

श्रीमद्भागवत पुराण में उसे पुण्यकर्ता माना गया है जो समाज को धर्म पथ पर चलाने का प्रयत्न करता है। यह अवश्य है कि जो धर्म का पथ संचालित करे उसे धर्म का ज्ञान आवश्यक रूप से होना चाहिए। इसीलिए धर्म की जो भी परिभाषाएँ हैं, वे सभी प्राय: व्यक्ति के लिए कर्तव्य रूप में हैं।[३]

धर्म किसी को बाधा नहीं पहुँचाता और न वह किसी दूसरे के विश्वास पर आघात करता है। महाभारत में इसके लिए यह कहा गया है कि धर्म वही है जो किसी धर्म का विरोध नहीं करता। जो धर्म किसी दूसरे धर्म का विरोध करता है वह कुधर्म है।[४] इस दृष्टि से भी धर्म तब के समय में राज्य के संचालन का एक प्रमुख कारक था। धर्म के ऐसे ही स्वरूप का अनुभव करके सम्भवत: अशोक ने इच्छा प्रकट की थी कि दान, सत्य, पवित्रता के साथ दीन-दुखियों की सेवा हो और दासों के साथ उचित व्यवहार हो।[५]

---

१. भा.पु. ३/१२/४१
२. अशोक का द्वितीय शिलालेख (द्रष्टव्य)
३. धर्मग्राहयितुं प्राय: प्रवक्तारश्च देहिनाम्।
आचरयन्त्यनुमोदन्ते क्रियामाणं स्तुवन्ति च।। भा.पु. १२/१०/९
४. म.भा. वनपर्व २८/२४
५. द्रष्टव्य अशोक का सप्तम् शिलालेख

महाभारत में राजा के लिए धर्म पूर्वक चलने के निर्देश के साथ-साथ प्रजा को भी धर्म मार्ग पर चलने का निर्देश इस रूप में है जिसमें यह कहा गया है कि राजा दुष्टों का दमन करे, साधु पुरुषों की रक्षा करे, प्रजा को सत्पथ पर चलावे और उनके साथ धर्मानुसार व्यवहार करे।[१]राजा के कर्तव्यों में भी वहाँ पर यज्ञ करने, दान देने, प्रजा के पालन करने, धर्माचरण करने, शत्रु-संहार करने, मित्र की रक्षा करने को गिना गया है।[२] धर्म राजकर्म के मूल में है। धर्म वह तत्त्व है जिससे मनुष्य एक -दूसरे का विनाश नहीं कर पाते। प्रजा राजा के भय से ही परस्पर एक-दूसरे का भक्षण नहीं कर पाती और यह भय धर्मानुसार किए जाने वाले राज्य का ही है। राजा धर्म पूर्वक अखिल लोक की आराधना करके स्वयम् विराजमान होता है।[३]

एक और सन्दर्भ में यह कहा गया कि बृद्धों, अनाथों, लंगड़ों का पालन राजा पुत्रवत् करे क्योंकि वह धर्म से ही यह अधिकार प्राप्त करता है।[४]

सम्राट हर्ष के सम्बन्ध में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने जो विवरण दिया है उसके अनुसार सम्राट् हर्ष प्रजा की परिस्थिति का परिचय पाने के लिए स्वयं ही राज्य के विविध भागों में भ्रमण करते हुए लोगों से मिलकर उनके सुख-दुख का ज्ञान करते थे। ह्वेनसांग ने हर्ष के कामों का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि राजा का दिन तीन भागों में बंटा था। इसमें से एक भाग में वह राज्य कार्य करता था और शेष दो भाग उसके धर्म कार्यों में व्यतीत होते थे।[५]

---

१. म.भा.शां.पं. २१/१३-१४
२. राजदेहि प्रजां रक्ष धर्म समनुपालय।
अभित्रान् जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय।। वही, शां. प. १५/५३
३. वही ६८/८९
४. वही विराटपर्व ७०/२४
५. वा. (१), पृ. ३५४ भाग २, पृ.१८३

सम्राट हर्ष की ही भाँति अन्य राजागण भी प्रजा के लिए हितकारक कार्य करने का प्रयत्न करते थे।[१] अनेक बौद्ध राजा अपने धर्म के सम्बर्धन और संरक्षण में संलग्न थे।[२]

आचार्य कौटिल्य का मत भी लगभग वैसा ही है जिसका सम्बन्ध प्राचीन परम्परा से रहा है। वे एक स्थान पर लिखते हैं कि राजा का कर्तव्य है कि वह चारों वर्णों और आश्रमों के आचार की रक्षा करे और नष्ट होते हुए धर्म की स्थापना करे, क्योंकि राजा धर्म का प्रवर्तक है।[३]

आचार्य कौटिल्य ने यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि धर्मपूर्वक प्रजा पर शासन करना ही राजा का निजी धर्म है। वही उसको स्वर्ग तक ले जाता है।इसके विपरीत प्रजा की रक्षा न कर पाने वाला और उसको पीड़ा पहुँचाने वाला राजा कभी सुख नहीं पाता।[४] धर्म से अनुशासन रखते हुए चरित्र और व्यवहार की स्थापना करते हुए न्यायपूर्वक शासन करता हुआ राजा पृथिवी का स्वामी कहलाने योग्य होता है।[५]

धर्म और धर्मशास्त्र की महत्ता को स्वीकार करते हुए कौटिल्य ने यहां तक लिखा है कि जहां भी चरित्र और लोकाचार के साथ धर्मशास्त्र का विरोध हो, वहां पर धर्मशास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिए।[६]

धर्म को कर्तव्य रूप में स्वीकार करने के कारण ही कौटिल्य ने यह लिखा है कि वही अर्थात् धर्म ही अलब्ध का लाभ कराता है, लब्ध की रक्षा करता है और रक्षित का उचित स्थान पर निवेश करता है और यह धर्म पूर्वक दण्डनीति के माध्यम से होता है।[७]

१.वा.(१), पृ. १७६, हि.पु.स., पृ. ३७४-३७५
२.वा.(२), पृ. २३६
३. चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्तकः।। कौ.अ., पृ. ३१८
४. वही, पृ. ३१८ ५. वही, पृ. ३१८ ६. वही, पृ. ३१९
७. वही, पृ. १५

पाश्चात्य विचारकों में प्लेटो को यदि हम उद्धृत करना चाहें तो हम यह देख सकते हैं कि इनकी प्रसिद्ध रचना 'रिपब्लिक' में न्याय की स्थापना जिस प्रकार से की गई है, वह नैतिक नियमों के आधार पर की गई प्रतीत होती है। वे अपने इस ग्रन्थ के माध्यम से न्याय के आधार पर संरचित एक श्रेष्ठ समाज को देखना चाहते हैं। वे जब न्याय की परिभाषा करते हैं तो वह धर्म के समरूप तब दिखाई देती है जब वे कहते हैं कि न्याय का सम्बन्ध मनुष्य के वाह्य क्रिया-कलापों से ही नहीं, अपितु उसकी आत्मा से है।[१] वे इसके आगे न्याय को एक ऐसे सद्गुण के रूप में भी स्थापित करते हैं जो व्यक्ति में आत्म नियंत्रण की भावना उत्पन्न करके उन्हें सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता प्रदान करता है। इसलिए व्यक्ति के लिए न्याय का अर्थ अपने कर्तव्यों का पालन करना और दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करना है।[२]

एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् राज्य के ध्येय के सम्बन्ध में लिखते हैं कि राज्य का ध्येय होना चाहिए राष्ट्रीय समर्थताओं का विकास, राष्ट्रीय जीवन का परिमार्जन और उसकी पूर्णता किन्तु नैतिक और राजनैतिक गति का मानव की नियति से विरोध न हो।[३] इस सन्दर्भ में मार्क्सवाद एक ऐसा मतवाद है जिसने विश्व को प्रभावित किया है और जो धर्म, ईश्वर अथवा किसी पन्थ को नहीं मानता । वे सभी को गपोड़बाजी मानते हैं।[४] इसलिए मार्क्स के द्वारा राज्य के निमित्त धर्म को स्वीकार किया जाना सम्भव नहीं है।

---

१. **Rep** (४), पृ. १९६
२. वही, पृ. १८१
३. ध्यो.स्टे. (५), पृ. (४), पृ. ३००
४. मा.गां.सा., पृ. १६१ से उद्धृत

स्वामी विवेकानन्द राष्ट्र में राष्ट्रिय तत्त्व के रूप में धर्म को प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं। उनका स्पष्टत: यह मत है कि राष्ट्र के मूल में धर्म ही प्रमुख हो सकता है। वे लिखते हैं कि जिस प्रकार संगीत में एक प्रमुख स्वर होता है वैसे ही हर राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तत्त्व होता है। भारत का तत्त्व धर्म है। समाजसुधार तथा अन्य कुछ गौण हैं।[१] गांधी जी राजनीति, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने के पक्ष में थे। उनका यह कहना था कि सत्य और अहिंसा रजो धर्म के अंग है, समाजवाद के रूप में मूर्तिमान होना चाहिए। क्योंकि अहिंसा की पहली शर्त यह हैं कि सर्वत्र तथा जीवन के हर क्षेत्र में न्याय की स्थापना की जाए। उनका यह कहना थाकि समाजवाद का पाश्चात्य सिद्धान्त हिंसा के वातावरण में उत्पन्न हुआ है। सत्याग्रह ही समाजवाद लाने का एकमात्र साधन है।[२] महात्मा गांधी कर्म और धर्म में अभेद सम्बन्ध मानते हैं और यह विचार व्यक्त करते हैं कि कर्म न हो तो धारण कौन करे। 'सत्' यदि मूलाधार होकर धारण करता है तो कर्म व्यवहार होकर प्रकट होता है।[३] इसलिए ही सम्भवत: यह राज्य के लिए अपरिहार्य होता है।

जवाहरलाल नेहरू एक ऐसे राजनेता थे जो राष्ट्र के हिमायती होकर इसकी प्राचीन धरोहर के प्रति आकर्षित थे किन्तु वे संगठित धर्म के राजनैतिक कुप्रभावों से जनता को त्राण देना चाहते थे। वे पश्चिम के रंग में गहरे रंगे थे। मार्क्स और लेनिन उन्हें गीता और मानस की अपेक्षा अधिक भाते थे।[४]

---

१. **C.W.S.V.(i), 140**
२. हरिजन (द्दष्टव्य) जुलाई २०, १९४७
३. मा.गां.सा., पृ. १९५
४. आ.भा.रा.चि., पृ. ७६२-७६३

वर्तमान समय में धर्म और धर्म निरपेक्षता:

उपनिषदों की ऐसी भाव परम्परा को स्मृतियाँ भी किसी न किसी रूप में स्वीकार करती हैं और वे भी धर्म को आचरण रूप में ही देखती हैं। मनु तो स्पष्ट रूप से यह लिखते हैं कि जो स्वयं को प्रिय हो, वेदादि शास्त्रों से सम्मत हो और सदाचार रूप हो, वही धर्म का यथार्थ लक्षण है।[१] याज्ञवल्क्य भी ऐसी ही भावना से सहमत हैं और वे भी धर्म को सदाचार के रूप में ही देखते हैं और यह संकेत करते हैं कि सत् का जो मूल है वही धर्म का मूल है।[२]

आचार्य कौटिल्य की धर्म के सम्बन्ध में बड़ी ही स्पष्ट दृष्टि है। वे इसे दो रूपों में देखते हैं-एक विशेष धर्म के रूप में और दूसरा सामान्य धर्म के रूप में। विशेष धर्म के रूप में वे जिस धर्म का विवेचन करते हैं, वह तो वर्ण तथा आश्रमवासियों के लिए कहा गया कर्तव्य रूप धर्म ही है। वे सभी वर्णों के लिए कर्तव्यों का कथन करते हैं और यह इंगित करते हैं कि सभी को अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, क्योंकि वही उनका धर्म है। यही स्थिति आश्रमवासियों के लिए भी है और उनके लिए निर्धारित किए गए कर्म भी उनके लिए धर्म हैं।[३]

सामान्य धर्म के रूप में जो उन्होंने कहा है, वह मनुष्य के उन सद्‌गुणों का कथन है जिनके धारण करने से मनुष्य मनुष्यता के गुणों से समन्वित होता है। इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह और अपरिग्रह जैसे गुण हैं।[४]

---

१. मनु.स्मृ. २/१२
२. या.स्मृ. १/७
३. कौ.अ., पृ. १२
४. वही, पृ. १४

इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि धर्म मनुष्य के जीवन का एक महत्वपूर्ण कारक रहा है और उसने किसी न किसी रूप में तब के समय में राजा और राज्य को भी प्रभावित किया है। किन्तु यहाँ यह एक बात ध्यान देने योग्य है कि राजा ने धर्म को महत्व देते हुए भी और राज्य में धर्माचरण की इच्छा रखते हुए भी कभी राज्य को धर्म राज्य घोषित नहीं किया। सम्राट अशोक ने भी, जिसने बाद में बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और अपने पुत्र-पुत्री को उसका प्रचार करने के लिए नियुक्त किया था, राज्य धर्म के रूप में बौद्ध धर्मको सभी के लिए अनिवार्य नहीं किया। इसके लिए तब राजा किसी एक धर्म की संस्थाओं की सहायता नहीं करते थे अपितु वे विविध धर्मों की संस्थाओं को दान देते थे जिससे उनकी धर्म निरपेक्षता प्रकट होती थी।[२] बौद्ध सम्राट कनिष्क अपने राज्य के विभिन्न भागों में प्रचलित विविध धर्मों का आदर करता था इसलिए उसकी प्रतिष्ठा अतिशय रूप में थी।[३]

कौटिल्य को भी हम इसी रूप में देख सकते हैं जिसमें सभी को उनके कर्तव्य रूप के पालन की स्वतन्त्रता देते हैं और किसी को भी किसी के कर्तव्यों में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं देते। वे राजा के लिए दण्डधारण करने का अधिकार इसलिए देते हैं जिससे उसके दण्ड से भयभीत होकर सम्पूर्ण प्रजा अपने कर्म और अपने धर्म में प्रवृत्त रहे।[४] न वह अपने कर्म से हटे और न वह अपने धर्म से ही विचलित हो। कर्म भी उसका धर्म है और जो सद्गुण हैं, वे भी धर्म हैं। इनका पालन करना ही धर्म का पालन करना है जिसमें राजा की ओर से स्वतन्त्रता होती थी।

---

१. अशोक का सप्तम शिलालेख (दृष्टव्य)
२. प्रा. भा. सा. सां. भू., पृ० ५२०
३. ज. रा. ए. सो. (१९१२), पृ० १००३-१००४
४. कौ. अ., पृ० १७

राजा अपने धर्म का पालन करता हुआ भी सभी को धर्मों का किस प्रकार पालन करने दे और स्वयम् किस तरह से धर्म निरपेक्ष बना रहे- इसका निर्देश आचार्य कौटिल्य ने किया है। उन्होंने एक स्थान पर यह लिखा है कि राजा जहाँ सिंचाई के लिए नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बनवाकर सिंचाई की व्यवस्था करे, वहीं वह देवालयों के लिए और बाग-बगीचों के लिए भूमि दान भी करे।[१] इसमें कौटिल्य ने यह नहीं कहा कि राजा केवल उन्हीं देवालयों को भूमिदान करे जो उसके धर्म से सम्बन्धित हों अपितु कौटिल्य का अभिप्राय सभी प्रकार के देवालयों को भूमि देने से हो सकता है।

एक दूसरे स्थान पर विजय प्राप्त किए हुए राजा के लिए यह निर्देश है कि वह विजित प्रजा के प्रति सदाशयता का व्यवहार करे और ऐसा कदापि न करे जिससे वहाँ की प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट अनुभव होवे। आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि विजयी राजा, जब विजित प्रदेश में जाए तो समुचित राजमार्ग, कर माफी तथा सुख-सुविधाएँ देकर प्रजा की रक्षा करे। उस राजा को चाहिए कि वह सभी धर्मों के देवताओं तथा आश्रमों की पूजा करावे और विद्वानों, वक्ताओं तथा धर्मप्राण व्यक्यिों को भूमि और द्रव्य देकर उनसे किसी भी प्रकार का राजकर न वसूल करे।[२] और इस रूप में आचार्य कौटिल्य ध र्म को महत्वपूर्ण मानते हुए भी राजा के लिए यह निर्देश करते हैं कि वह सभी धर्मों का आदर करे, जो सच्ची धर्म निरपेक्षता है।

---

१. पुण्यस्थानारामाणां च संभूय सेतुबन्धाद्रक्रारमतः कर्मकरबलीवर्दाःकर्म कुर्युः।
कौ. अ.,पृ. ९६

२. उचितैश्चैनान् भोगपरिहारक्षावेक्षाणैर्भुञजीत। सर्वदेवताश्रमपूजनं च विद्यावाक्यधर्मशूर पुरुषाणां च भूमिद्रव्यदानपरिहारान् कारयेत्। वही, पृ. ८९७

वर्तमान सन्दर्भ में यदि हमें धर्म निरपेक्षता पर दृष्टिपात करना है तो भारतीय स्वतन्त्रता के पूर्व की स्थिति और वर्तमान कालिक स्थितियों पर विचार करना चाहिए । देश के नेता जब देश को स्वतन्त्र कराना चाहते थे तब वे धर्म का विचार नही कर रहे थे किन्तु तभी शासन और सुविधाओं की इच्छा करके कुछ लोगों ने द्विराष्ट्रवाद का सिद्दान्त उछाला जिसमें प्रमुख रूप से हिन्दू और मुसलमान का नाम लिया गया। इसमें तत्कालीन मुसलिम नेताओं में जिन्ना ने यह कहना प्रारम्भ किया कि राजनीतिक शक्ति में मुसलिम भारत और गैर मुसलिम भारत का पचास-पचास प्रतिशत का साझा होना चाहिए । १९४० में मुसलिम लीग के लाहौर अधिवेशन में जिन्ना ने अपने द्विराष्ट्रवाद अर्थात् दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को रखा। यह सिद्धान्त शुद्ध रूप से धर्म का आधार बनाकर रखा गया था। इसी तरह से एक और मुसलिम नेता मुहम्मद अली ने भी इसी प्रकार का विचार दिया जिसमें उन्होंने कहा कि मुसलमानों के साम्प्रदायिक व्यक्तित्व को स्वीकार कर लेना भारतीय समस्याओं के रचनात्मक समाधान का एक मात्र आधार है[२]। इसी के साथ-साथ यद्यपि उस समय हिन्दू महासभा जैसी कुछ संस्थायें भी ऐसाविचार व्यक्त करने लगी थीं जो हिन्दू धर्म के प्रभुत्व को बढ़ाने में प्रयत्नशील थीं और जिसका विरोध जवाहरलाल नेहरू कर रहे थे[३] ।

१९४७में भारत स्वत्रन्त हुआ और इसके समक्ष विभाजन की जो त्रासदी थी, उसका विकल्प तत्कालीन नेतृत्व को यही लगा कि धर्म निरपेक्षता की नीति एक ऐसी नीति है जिस पर चलकर यह देश अपना विकास कर

१.आ०भा०रा०चि०, पृ० ४४३
२.वही, पृ० ४४५
३.वही, पृ० ५४८

सकता है। इसलिए भारतीय संविधान में और शासन में इस दृष्टि को स्वीकार किया गया। इसी के साथ-साथ साम्यवादी , समाजवादी और श्री नेहरू जैसे व्यक्तिभी धर्म को राज्य के लिए अनुकूल नहीं मानते थे, इसीलिए वे धर्म निरपेक्षता के पक्षपाती थे और इसे ही इस देश की स्वतन्त्रता के बाद राज्य संचालन का एक आधार मानते थे।

श्री जवाहरलाल नेहरू यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से साम्यवादी नहीं थे और न वे धर्म को अफीम कहते थे[१] किन्तु वे यह अवश्य अनुभव करते थे कि देश धर्म सापेक्षता और सम्प्रदायवाद के चक्कर में आकर अपना वैज्ञानिक विकास न कर सकेगा। इसीलिए वे धर्म निरपेक्षता के सर्मथक और सम्प्रदायवाद के कट्टर शत्रु थे।[२] इसदृष्टि से श्री नेहरू श्री गाँधी के भी विरोधी दिखाई देते हैं क्योंकि श्री गाँधी पूर्ण रूप से धार्मिक थे और वे जीवन में धर्म को बहुत अधिक महत्व देते थे। उनका यह मानना था कि जैसे साधन होंगे, वैसे ही साध्य होंगे । उन्होंने घोषणा की थी कि धर्म के बिना राजनीति पाप है। उनकी घोषणा का समर्थन तब श्री गोखले ने किया था[३]।

इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि श्री गाँधी, श्री गोखले आदि धर्म की राजनीति के समर्थक थे और धर्म निरपेक्षता उनके विचारों के अनुकूल सम्भवतः नहीं थी। किन्तु भारत की तत्कालीन परिस्थिति और नेहरू की साम्यवादी समर्थित विचारधार से प्रेरित यह देश धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त पर चल पड़ा और आज भी इसी का नाम लिया जा रहा है ।

---

१. आ०दा०वि०इ०, पृ० ३५४
२. आ०भा०रा०चि०, पृ० ५५५
३. आ०रा०वि०इ०, पृ० ५३८

इस समय धर्म और धर्म निरपेक्षता को लेकर जिस प्रकार से विचार व्यक्त किए जा रहे हैं , उनमें प्रमुख हेतु राजनीतिक वोटों से प्रभावित होना है। वोट परक राजकार्य होने से और बहुसंख्यक अल्पसंख्यक रूप में बात करने से अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। इससे इस समय यह लगने लगा है कि अल्पसंख्यकों का पक्ष अधिक लिया जा रहा है और वे हर जगह दबाये जा रहे हैं तथा उन्हें दोयम दर्जे का नागरिक मानकर व्यवहार किया जा रहा है। यह स्थिति निश्चित रूप से हितकर नहीं है।

प्राचीन भारत में धर्म को लेकर जैसा व्यवहार होता था उसके अनुरूप राजा कभी भी धर्म के आधार पर प्रजा को सुविधा, असुविधा नहीं देता था। किसी एक धर्म को मानने वाला राजा भी सभी धर्मानुयायियों के साथ समान व्यवहार करता था और सभी को समान रूप से सुविधायें देता था। हमारी दृष्टि से यही धर्म निरपेक्षता का स्वरूप हो सकता है और इसे ही आज भी चलाया जा सकता है।

एक दूसरी बात यह है कि कर्तव्य रूप में धर्म की परिभाषा करने पर और सद्गुणों के रूप में धर्म को मानने पर इनसे निरपेक्ष नहीं हुआ जा सकता । इसलिए भी धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त विवादस्पद हो जाता है, अतएव सम्प्रदाय निरपेक्षता का विचार प्रचारित किया जाना चाहिए और राज्य के द्वारा सभी सम्प्रदाय वालों के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए। इस देश में इस प्रकार की सम्प्रदाय निरपेक्षता के प्रमाण इस रूप में देखने को मिलते हैं जब श्रमण, ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदाय परस्पर व्यवहार करते हुए अपने मतों का प्रतिपादन शास्त्र लिखकर किया करते थे और समाज में परस्पर सौहार्द से रहते थे। आज भी इसी प्रकार का व्यवहार हो सकता है और हम सम्प्रदाय निरपेक्ष हो कर रह सकते हैं ।

राजा तथा राज्य की प्राचीन अवधारणा के संकेत

हम अपने पिछले सन्दर्भों में यह देख चुके हैं कि अति प्रचीनकाल अर्थात् वैदिक काल से ही राजा की परिकल्पना समाज में गई थी और इसके लिए यह कहा गया था कि हर बड़ी मछली जैसे छोटी मछली को खा जाती हैं उसी प्रकार प्रत्येक बलशाली व्यक्ति अपने से निर्बल व्यक्ति को शोषित करने का प्रयत्न करता है, इसीलिए राजा अर्थात् रक्षक की आवश्यकता होती है जो निर्बल की रक्षा करे और बलबानों पर नियन्त्रण करके उन्हें विधि सम्मत मार्ग पर चलने के लिए विवश करे। तैत्तरीय संहिता में इसीलिए राजा के लिए यह कहा गया कि राजा के द्वारा मनुष्य विधृत होते हैं अर्थात् राजा प्रजा को भली प्रकार धारण करता है।[१] इसका अभिप्राय यह हुआ कि राजा वह है जो प्रजा का भली प्रकार पालन करता है। किन्तु हम राजा की इस कल्पना के साथ प्राचीन समय से ही यह भी देख सकते हैं कि तब यह भी कहा गया था कि राजा शोभा तभी पाता है जब वह प्रजा के अभ्युदय के लिए कार्य करता है [२]।

आचार्य कौटिल्य ने इसीलिए एक वाक्य में यह कह दिया है कि प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित है। केवल अपने हित और अपनी प्रियता के लिए किया जाने वाला कार्य राजा के लिए शोभाकर नहीं है। वे लिखते हैं कि राजा का शरीर पृथिवी के पालन के लिए है। वह भोग के लिए नहीं है। वह तो केवल धर्म के परिपालन के लिए है [३]।

१.तै० सं० २।६।२।२
२.श० ब्रा० ५।४।४।१४
३.कौ० अ०, ७७, मार्क० १३०।३३-३४

कौटिल्य ने इसीलिए राजा के कर्तव्यों का कथन इस प्रकार से किया है। एक तो उनका यह निर्देश है कि राजा अपनी दिनचर्या को इस प्रकार से विभाजित करे जिससे वह सम्पूर्ण राज्यवासियों के हित कारक कार्यों का निरीक्षण और सम्पादन भली प्रकार से करता रहे। इसके साथ ही वह मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श करके राज्य के कार्य सम्पादित करे। वह पूरी तरह से राज्य की प्रजा के लिए समर्पित हो और अपने जीवन में पवित्रता से आचरण करे।[१]

इसी तरह से भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा लगभग एक जैसी है जिसमें यह कहा गया है कि समाज यदि राज्य विहीन होगा तो पूरे समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जावेगी। राज्य की परिभाषा प्राचीन समय में जिस रूप में की गई थी, उसमें यह कहा गया था कि राजा का भाव अथवा राजा का कार्य ही राज्य हैं।[२] वेद भी इसी विचार परम्परा को आगे बढ़ाते हैं और यह कहते हैं कि राजा का निर्वाचन होता है इसलिए जिस प्रकार से राज्य का संरक्षण हो, वही राजा का लक्ष्य है।[३]

राजा का लक्ष्य प्रजा का संरक्षण है और राज्य की व्यवस्थाओं का विधिवत संचालन करना है। राजा और राज्य तभी विधिवत रूप से व्यवस्थित ढ़ंग से चल सकते हैं जब उनके बीच में विधि व्यवस्था भली प्रकार से लागू हो। यही कारण है कि प्राचीन समय में जिस ऋत और सत्य की कल्पना की गई, बाद में वही विधि के रूप में कल्पित हुआ और यह कहा गया कि विधि के बिना राजा के द्वारा ही केवल राज्य कार्य नहीं चल सकता।[४]

---

१. कौ.अ., पृ० ७५,७७
२. का. ६।४।१६८
३. अथर्व० ६।५४।२
४. प्रा.रा.न्या, पृ० ६-७

वर्तमान शासकों के साथ साम्य-वैषम्य

पूर्व में दिए गए विवरणों तथा अनेक सन्दर्भों से यह कहना संगत है कि वेदों से लेकर चाणक्य तक पूरा सन्दर्भ यह कहता है कि उस समय का शासक यद्यपि सर्वशक्ति सम्पन्न होता था तथापि धर्म और कर्तव्य के बन्धनों से वह इतना अधिक बंधा हुआ होता था कि उसके लिए स्वच्छन्द होकर चलपाना लगभग कठिन होता था। वरुण ने राजा के रूप में जो किया था और वेद जिसे विशद रूप में गाते हैं, उसके अनुसार वह लोगों को विपत्ति से बचाता था,[१] शासन के विधान की प्रतिष्ठा करता था,[२] प्रजा के शत्रुओं का दमन करता था,[३] चोरों से प्रजा की रक्षा करता था,[४] सार्वजनिक कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता था,[५] अज्ञान का नाश करता था।[६] इस रूप में तत्कालीन राजा के कर्तव्यों और अधिकारों से भी जो बात स्पष्ट रूप से झलकती थी, और जिसे स्मृतिकार तथा आचार्य कौटिल्य भी स्वीकार करते हैं, उसके अनुसार वह लोक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होकर राज्य कार्य करता था और सतत प्रजा के अनुरंजन में लगा रहता था।[७]

जहाँ तक लोक हित की बात है तथा लोक कल्याण कारी राज्य की बात है उसके विषय में आधुनिक विचारक मत व्यक्त करते हैं कि सामान्य हित के विचार के अनुसार कार्य करने से ही राज्य वास्तव में राज्य कहलाने का अधिकारी होता है।[८] इसी तरह से एक अन्य विद्वान यह कहते हैं कि सामान्य हितों से सम्बन्धित प्रश्नों के विषय में मनुष्यों की घोषणायें होती हैं। उन्हें लोकमत अथवा जनमत की संज्ञा दी जाती है।[९] राजा सद्-गुणी हो, लोकहित की कामना में रहे, प्रजा के उत्कर्ष

---

१. ऋक् ५।८५।३।, १।२५।५
२. वही १।२५।१०
३. वही २।२८।७
४. वही २।२८।१०
५. यज. ९।२२
६. वही वही १०।३२
७. **H.P., P. 346-347.**
८. रा.दा.सि, पृ० १३२
९. वा.दा.रा.वि.पृ० २०४

के लिए प्रयत्नशील बना रहे। यह प्राचीन शासकों के लिए प्राचीन विचारकों के नियम और निर्देश थे, जिसे वे विधि द्वारा संचालित करते थे।

वर्तमान सन्दर्भ में भी हम यही देख सकते हैं कि लोक कल्याण की भावना से ही लोकतन्त्रात्मक राज्य की कल्पना इस देश में की गई और इसका उदेश्य भी यही निर्धारित किया गया कि राज्य सर्वतो भावने प्रजा के हित में काम करें। लोकतन्त्र का अर्थ होता है लोक का तन्त्र (शासक) अथवा लोक के लिए तन्त्र। इस पद्धति को संचालित करने के लिए ही श्री नेहरू ने एक संविधान सभा की आवश्यकता पर बल दिया था जो वयस्क मताधिकार पर आधारित हो।[१] महात्मा गाँधी जी ने भी सामान्यजन को लक्ष्य मानकर यह लिखा था कि जो सरकार सामान्यजन के लिए भोजन और वस्त्र नहीं जुटा सकती, वह सरकार नहीं है, वह अराजकता है।[२]

यद्यपि इस समय शासकों का स्वरूप राजा का स्वरूप नहीं है किन्तु विधि द्वारा जो शक्तियाँ उन्हें प्राप्त हैं, उनका प्रयोग उन्हें प्रजा की हित कामना के लिए ही करना चाहिए। वर्तमान समय में खेद कारक स्थिति यह है कि शासक अपने जीवन में शुचिता का उतना ध्यान नहीं रखते जैसा कि प्राचीन समय में राजा धर्म के आचरण से स्वयं का जीवन श्रेष्ठ बनाते थे। इसी तरह से आज के शासक स्वयं की सम्पन्नता के लिए भी प्रयत्नशील होकर प्रजा की उपेक्षा करने लगे हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सभी ऐसा कर रहे हैं।

---

१ I.S.J.N., P. 58-59
२. हरिजन, जून-१९४६

कौटिल्य कालिक राजनीति का वर्तमान परिप्रेक्ष्य

कौटिल्य अर्थशास्त्र के रूप में जिस ग्रन्थ की रचना करते हैं, वह प्रमुख रूप से राजाओं को दृष्टि में रखकर लिखा गया ग्रन्थ है। उस समय राजतन्त्र की ही परम्परा थी और तब राजा ही सर्वोपरि होता था। यद्यपि राज्य कार्य के संचालन के लिए और राजा को मन्त्रणा देने के लिए मन्त्रियों का समूह भी होता था और इनको भी पर्याप्त अधिकार होते थे किन्तु फिर भी राजा की आज्ञा सर्वोपरि होती थी। जिसे कौटिल्य ने यहाँ तक कह दिया है कि यदि धर्म और शास्त्र में विरोध हो तो धर्म ही विशेष है और इसका पालन किए जाने के कारण राजा सबसे बड़ा देवता है। उससे बढ़कर कोई दूसरा नहीं हैं।[1]

राजा की इस महत्ता को रखने में धर्म की भूमिका को आचार्य ने इस रूप में स्वीकार किया है जिसमें उन्होंने लिखा है कि धर्म ही संसार को धारण किए हुए है। धर्म और अधर्म दोनों मृत पुरुष के साथ जाते हैं। वे यहाँ तक लिखते हैं कि राज्य और दान धर्ममूलक होते हैं। अर्थात् धर्म से ही राज्य चलता है और धर्म के भाव से ही दान किया जाता है।[2]

राजा के द्वारा राजनीति किए जाने के सन्दर्भ में एक अन्य स्थान पर आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि राजा केवल अपनी इच्छा और अपने शौर्य से राज्य का संचालन नहीं कर सकता । राज्य की राजनीति नीतिशास्त्र पर आधारित होती है।[3] विना नीति के राजनीति अनीति है।

---

१. न राज्ञः परं दैवतम्। कौ.अ.,पृ० ९७०
२. धर्मेण धार्यते लोकः। धर्मेण जयति लोकान्। धर्ममूले राज्यदाने। वही, पृ० ९६२
३. राज्यतन्त्रायत्तं नीतिशास्त्रम्। वही, पृ० ९४९

प्रजा का हित सर्वोपरि है और राजा का जीवन प्रजा के लिए ही है उसे भोग में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए ऐसा अभिमत व्यक्त करने के साथ-साथ आचार्य ने यह भी लिखा है कि राजा काम का उपभोग तो करे किन्तु वह कार्य धर्मानुवृत होवे।[१] वे यह अभिमत स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं कि कामासक्त राजा का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता।[२] राजा व्यवहारिक रूप से राजनीति करे और उसे व्यवहार का पूरा ज्ञान हो, ऐसा भी आचार्य कौटिल्य का मत है क्योंकि वे यह कहते हैं कि व्यवहार के अनुसार ही धर्म होता है इसलिए राजा को व्यवहार अर्थात् न्याय में पक्षपात नहीं करना चाहिए।[३]

राजा स्वेच्छाचारी होकर राजनीति न करे इसलिए कौटिल्य ने यह निर्देश किया है कि गुरुजन और अमात्यवर्ग राजा की मर्यादा को निर्धारित करें। वे ही राजा को अनर्थकारी कार्यों से रोकते रहें। यदि राजा कभी प्रमाद करे तो उसे समय पर सचेत कर देवें।[४]

कौटिल्य राजा के व्यक्तिगत आचरण को इस लिए महत्त्व देते हैं जिससे वह प्रजा के साथ दुराचरण का व्यवहार न करे। प्राचीन समय में यद्यपि राजा के निषेध के लिए प्रजा की प्रत्यक्ष कोई भूमिका नहीं थी फिर भी कुछ अति प्राचीन उदाहरण देकर और दाण्डक्य, कराल, जन्मेजय, अजबिन्दु, दुर्योधन, कंसादि के नाम गिना कर आचार्य ने यह कहा है कि प्रजा के प्रति दुर्व्यहार करने के कारण इन राजाओं का पतन हुआ था।[५] इसलिए राजाओं को सावधान रहना चाहिए।

---

१. धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखंस्यात्। कौ.अ., पृ० २४
२. न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम्। कौ.अ., पृ० ९५१
३. वही, पृ० ९८१
४. वही, पृ० २४
५. वही, पृ० २१-२२

वर्तमान समय में शासन पद्धति का स्वरूप भिन्न है जो प्राचीन समय के अनुरूप नहीं है। अब लोकतन्त्रात्मक पद्धति से देश का शासन चल रहा है, जिसमें अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता प्रजा के हाथ में है जो अपने वोटों से शासन के प्रतिनिधियों का चुनाव करती है और फिर प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधि बहुमत के आधार पर राज्य का और राजनीति का संचालन करते हैं।

कौटिल्य कालिक अवधारणा के अनुरूप यद्यपि अब भी यह अपेक्षा की जाती है कि प्रजा के प्रतिनिधि वैयक्तिक चरित्र में स्वच्छ रहें और प्रजा के हित के लिए उत्तरदायी होवें किन्तु कानून के बन्धनों के अतिरिक्त धर्म और नैतिकता का बन्धन उन पर उतना नहीं है जितना प्राचीन समय में राजाओं पर हुआ करता था। पुराने समय में मंत्री और पुरोहित राजा को दिशा निर्देश के लिए सक्रिय रहते थे, आज उनकी स्थिति नहीं है।

कौटिल्य ने राजा के लिए कामसुख की प्राप्ति के लिए लिखा है किन्तु साथ ही यह भी लिखा है कि वह कामसुख धर्म विरोधी न हो। आज, अर्थ और अर्थ के आधार पर शक्ति तथा सामर्थ्य प्राप्त करने की परम्परा ने यहाँ भी धर्म की भावना को कमजोर किया है और फलस्वरूप जन प्रतिनिधियों के आचरण में गिरावट आयी है। इस क्रम में हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि प्राचीन राज परम्परा में प्रजा को कोई शक्ति नहीं प्राप्त थी किन्तु आज प्रजा अपने लोकतन्त्रात्मक अधिकार से अपनी शक्ति का प्रदर्शन करके राजनीति को प्रभावित कर लेती है। राजाओं के समय में ऐसा करना सम्भव नहीं था।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

आचार्य कौटिल्य की सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि का अध्ययन करने पर हम यह देख सकते हैं कि उन्होंने समाज के सन्दर्भ में उसी वर्ण और आश्रम व्यवस्था को स्वीकार किया है, जो उनसे पूर्व समय से चली आ रही थी। इसके लिए वे यह तर्क देते हैं कि वर्ण व्यवस्था में सभी अपने-अपने वर्णों के आधार पर अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं और आश्रमों में रहकर भी अपने जीवन को सतुलित ढ़ंग से व्यतीत कर सकते हैं। इसी तरह से वे विद्या विषयक विचार में भी यह स्पष्ट मन्तव्य देते हैं कि विद्या विनय का आधार होती है और इसी से व्यक्ति मानवीय गुणों से युक्त होता है। जहाँ तक अर्थ प्राप्ति में विद्या की महत्ता का प्रश्न है तो उस विषय में भी उनकी यह दृष्टि है कि जो बालक जिस कार्य वे प्रवृत्त होना चाहे, उसके आचार्य से वह उस विषय की शिक्षा प्राप्त करे। ऐसा करना केवल सामान्य जन के लिए ही आवश्यक नहीं है अपितु राजा को भी विद्या व्यसनी होना चाहिए।

राजा और राज्य के लिए मानदण्ड निर्धारित करते हुए आचार्य कौटिल्य यह अभिमत देते हैं कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है। इसलिए राजा को दुर्गुणों से दूर रहकर प्रजा के पालन में तत्पर रहना चाहिए और धर्मपूर्वक न्याय व्यवस्था को लागू करके प्रजा का रंजन करना चाहिए। कौटिल्य की समाजनीति और राजनीति का आधार धर्म है किन्तु वह कर्तव्य रूप में और मनुष्य के सदगुणों के रूप में है जिसका पालन करने से किसी प्रकार के विकार की सम्भावना नहीं रहती।

समाज के सन्दर्भ में हम पूर्व में यह देख चुके हैं कि वर्ण व्यवस्था के साथ-साथ तब जाति व्यवस्था का भी प्रारम्भ हो चुका था किन्तु वर्णानुकूल जाति व्यवस्था भी कर्म पर ही तब आधारित थी। आज के सन्दर्भ में यही कष्टकर है कि वर्णव्यवस्था के उन्मूलन होने पर भी जाति व्यवस्था चल रही है और राजनैतिक दृष्टि से इसका उन्मूलन करने की घोषणाओं के साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से इसका पोषण किया जा रहा है। इसमें बदलाव किया जाना चाहिए और दोहरी नीति त्यागनी चाहिए।

इसी तरह से शिक्षा को मनुष्य के निर्माण की भूमिका अदा करनी चाहिए तथा इसे अर्थ परक भी होना चाहिए। आज भी कौटिल्य की दृष्टि इस सन्दर्भ में सार्थक है तथा हमारी वर्तमान व्यवस्था व्यर्थ हो रही है। सम्भवतः इसका कारण हमारा पश्चिम का अन्धानुकरण है।

हम यह कह सकते है कि सामाजिक सन्दर्भ में और राजनैतिक सन्दर्भ में ही जब तक व्यक्ति में नैतिकता नहीं होगी और व्यक्ति को किसी न किसी मूल्य से नहीं जोड़ा जायेगा, तब तक वर्तमान विसंगतियों को दूर नहीं किया जा सकेगा। ऐसा करने के लिए हम आचार्य कौटिल्य की विचार धारा और उनकी व्यवस्थाओं से आज भी लाभान्वित हो सकते हैं।
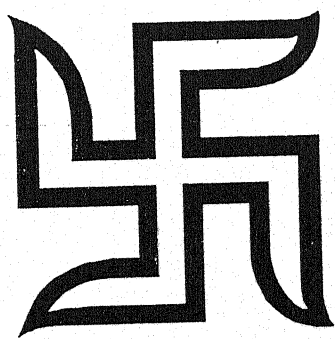
उद्धृत ग्रन्थ सूची

कोष ग्रन्थ -

१. मा. हि. को.	मानक हिन्दी कोश	रामचन्द्र वर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
२. वाचस्यत्यम्	वाचस्यत्यम् भाग-६	चौखम्बा संस्कृत सीरीज १९६२
३. वृ. हि. को.	वृहद् हिन्दी कोश	ज्ञान मण्डल लि. वाराणसी
४. वै. को.	वैदिक कोश	डा. मधुसूदन शर्मा जयपुर
५. वै. इ. (१)	वैदिक इण्डेक्स भाग (१)	मैक्डानल एवं कीथ
६. वै. इ. (२)	वैदिक इण्डेक्स भाग (२)	मैक्डानल एवं कीथ
७. श. क. (४)	शब्द कल्प द्रुम भाग ४	चौखम्बा सं. सीरीज
८. स. हि. को.	संस्कृत हिन्दी कोश	मोतीलाल वनारसी दास १९६६
९. इ. सं. डि.	संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी	मोनियर विलियम मोतीलाल वनारसी दास १९६४
१०. सं. श. कौ.	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	ज्ञानोदय प्रेस इलाहाबाद

प्राचीन साहित्य -ग्रन्थ-

१. अथर्व	अथर्ववेद	
२. अ.पु.	अग्नि पुराण	चौखम्बा सं. सीरीज १९६६
३. अ. शा.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	डा. हरिदत्त शास्त्री एवं डा. डा. शिवबालक द्विवेदी ग्रन्थम्- कानपुर १९८३
४. ई. द्वा. उ.	ईशादिद्वादशोपनिषद्	श्री कैलाश विद्याश्रम १९७६
५.ऋक्	ऋग्वेद	पारडी, सूरत-१९५७
६. ऐ. आ.	ऐतरेयारण्यकोपनिषद्	आनन्दाश्रम पूना
७. ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राहमण	बम्बई-१९११
८. कठो.	कठोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
९. का. श्रौ.	कात्यायन श्रौत सूत्र	चौखम्बा प्रकाशन
१०. का. नी.	कामन्दकीयनीतिः	वेकटेश्वर प्रेस बम्बई- सं. १९६१
११. का.	काशिका	वाचस्पति गैरोला चौखम्बा विद्याभवन सीरीज सं. १९६७
१२. कौ. अ.	कौटिलीय अर्थशास्त्र	वाचस्पति गैरोला चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी
१३. कौ.उ.	कौषीतकि उपनिषद्	गीता प्रेस, गौरखपुर
१४. गौ.ध.सू.	गौतम धर्म सूत्र	
१५. छा. उ.	छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
१६. जै. सू.	जैमिनिपूर्वमीमांसा सूत्र	महर्षि जैमिनि
१७. तै.उ.	तैत्तरीय उपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
१८. तै.सं.	तैत्तरीय संहिता	आनन्दाश्रम ग्रन्थावली १९०१

१९. तै.ब्रा.	तैत्तरीय ब्राहमण	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थवली-१९०१
२०. द.कु.च. (पू.)	दशकुमारचरितम्	डा. गदाधर त्रिपाठी अनुसन्धान प्रकाशन कानपुर
२१. पं.तं.	पंचतन्त्रम्	एम.आर.काले मोतीलाल बनारसी दास १९८२
२२. प.पु.	पदम् पुराण	गुरुमण्डल ग्रन्थमाला कलकत्ता-१९५७
२३. प.पु.	पदम् पुराण	सं. डॉ. अशोक चटर्जी
२४. बृ.उ.	बृहदारण्यकोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर
२५. भ. गी.	श्री मद्‌भगवत्‌गीता	गीता प्रेस, गोरखपुर
२६. भा.पु.	भागवत पुराण	गीता प्रेस, गोरखपुर
२७. म.पु.	मत्स्य पुराण	गीता प्रेस
२८. मत्स्य	मत्स्य पुराण	गुरुमण्डल ग्रन्थमाला कलकत्ता-सं. १९५४
२९. म.भा.	महाभारत	भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट १९३३-६५
३०. म. स्मृ.	मनुस्मृति	बम्बई-१९४६
३१.मार्क.	मार्कण्डेय पुराण	
३२. मु.उ.	मुण्डकोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
३३. मै.सं.	मैत्रायणी संहिता	स्वाध्याय मण्डल पारडी- १९४२
३४. शु. य.	यजुर्वेद संहिता	बम्बई-१९२९
३५. या. स्मृ.	याज्ञवल्क्य स्मृति	डा. उमेशचन्द्र तथा श्री नारायण मिश्र चौखम्बा सं. २०३९

३६. व्या. स्मृ.	व्यास स्मृति	महर्षि वेदव्यास
३७. वा. रा.	वाल्मीकि रामायण	गीता प्रेस, गोरखपुर
३८. वि. पु.	विष्णु पुराण	वेंकटेश्वर मुद्रणालय १९४०
३९. वि. पुराण (१)	विष्णु पुराण	संस्कृत्ति संस्थान बरेली
४०. वै.द.	वैशेषिक दर्शन	महर्षि कणाद
४१. शं.स्मृ.	शंख स्मृति	आनन्दाश्रम, पूना
४२. श.ब्रा.	शतपथ ब्राहमण	काशी हि. वि. सं. १९९४
४३. शु.नी.	शुक्रनीति	ब्रहमशंकर मिश्र चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी-१९६८
४४. सि. कौ.	सिद्धान्त कौमुदी बाल मनोरमा (चतुर्थ भाग)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज-१९५८

समीक्षात्मक-इतिहास-ग्रन्थ-

१. अ.रा.	अथर्ववेदे राजनीतिः	विनायक रामचन्द्र सं. सं. सं.वि.वि. १९८९
२. अ. भा. सं.	अरब और भारत के सम्बन्ध	सुलैमान नदवी इलाहाबाद १९३०
३. आ. भा. रा. चि.	आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन	डा. वीपी. वर्मा लक्ष्मी नारायण अग्रवाल एण्ड सं. आगरा-२००२
४. आ.रा.वि.इ.	आधुनिक राज नीतिक विचारों का इतिहास	डा. प्रभुदत्त शर्मा कालिज बुक डिपो जयपुर-१९७२
५. इ. एण्टी.	इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द-८	
६. उ.वै.स.सं.	उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति	डा. विजय बहादुर
७. उ.स.सं.	उपनिषत्कालीन समाज एवं संस्कृति	डा. राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी परिमल पब्लिकेशन दिल्ली
८. ए. इ.	एपिग्रैफिया इण्डिका जिल्द-१	
९. ऐ. इ. ए.	ऐश्येंट इण्डियन एजूकेशन	श्री रंगरामानुजम्
१०. कल्याण	कल्याण हिन्दू संस्कृति अंक	गीता प्रेस गोरखपुर
११. क.जी.द.	कर्ण का जीवन दर्शन	ड़ा उमेश चन्द्र ईस्टर्न बुक लिंकर्स १९८८
१२. क.सी.जा.	जातक (हिन्दी अनुवाद)	प्रयाग १९४१-५५
१३. कौ.यु.द.	कौटिल्य का युद्धदर्शन	ड़ा लल्लन जी सिंह प्रकाशक बुक डिपो बरेली १९८४
१४. कौ.अ.स.अ.	कौटिल्य का अर्थशास्त्र (समीक्षात्मक अध्ययन)	ड़ा उमाशंकर प्रसाद श्रीवास्तव प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली १९८८
१५. जे.आर. ए. एस.	जनरल आफ रायल एशियारिक सोसायटी- १९४१	

१६. जा. भा. सं.	जातक कालीन भारतीय संस्कृति	मोहनलाल महतो बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना-१९५७
१७. टै.ला.ले.	टैगोर ला लेक्चर्स एडाप्सन इनेहरिटेस एण्ड पार्टीशन	ड़ा जाली संस्करण-१८८३
१८. थ्योरी. स्टे.	थ्योरी आफ द स्टेटपुस्तक ५	ब्लट्शली आक्सफोर्ड-१८८५
१९. थ्यो. एन्सि.इ.	थ्योरी आफ गर्वन्मेण्ट इन एन्शियण्ट इण्डिया	श्री बेनी प्रसाद इलाहाबाद-१९७४
२०. दी.प्रि.उ.	दी. प्रिंसिपल आफ उपनिषत्स्	ड़ा राधाकृष्णन्
२१. धर्म अं.	धर्मशास्त्राङ्क. (कल्याण वर्ष-७०)	गीता प्रेस, गोरखपुर
२२. ध.शा.इ. (१)	धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)	उ.प्र. हिन्दी संस्थान १९८०
२३. ध. शा.इ. (२)	धर्मशास्त्र का इतिहास (द्वि. भा.)	अनु. अर्जुन चौबे काश्यप उ.प्र. हिन्दी संस्थान लखनऊ-१९८२
२४. प्रा. भा.	प्राचीन भारत	ड़ा राजवली पाण्डेय
२५. प्रा.आ. शा.	प्रारम्भिक आचार शास्त्र	अशोक कुमारवर्मा, मोतीलाल बनारसीदास १९८५
२६. प्रा.रा.न्या.	प्राचीन भारत राज्य और न्याय पालिका	डा. हरिहरनारायण त्रिपाठी
२७. प्रा.रा.वि.सं.	प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ	श्री हरीश चन्द्र शर्मा, कालिज बुक डिपो जयपुर
२८.प्रा.भा.ज.	प्राचीन भारत में जनतन्त्र	डा. देवीदन्त शुक्ल, हिन्दी समिति लखनऊ-१९६६
२९. प्रा.भा.शा.	प्राचीन भारतीय शासन पद्धति	प्रो. अल्तेकर, प्रका. २००४ वि.
३०.पा.का.भा.	पाणिनिकालीन भारतवर्ष	डा. वासुदेव शरण अग्रवाल
३१.प्रा.भा.सा.सां.भू.	प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका	डा. रामजी उपाध्याय, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद-१९६६
३२. भा.वि.	भारतीय विचार धारा	हरिहरनाथ त्रिपाठी वाराणसी-१९१३

३३. भा.इ.रू.रे.	भारतीय इतिहास की रूपरेखा	डा. जय चन्द्र विद्या लंकार
३४. भा.नी.वि.	भारतीयनीति का विकास	डा. राजवली पाण्डेय बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्-१९६५
३५. भा.सै.इ.	भारतीय सैन्य इतिहास	डा. लल्लन जी सिंह प्रकाशन-१९८०
३६. म.कु.जा.	जातक (हिन्दी अनुवाद)	प्रयाग १९४१-५५
३७. मा.गां.सा.	मार्क्स और गान्धी का साम्य दर्शन	श्री नारायण सिंह, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
३८. मै.पा.प्र.	मैरिज पास्ट एण्ड प्रेजेंट	श्रीमति एम. कोल
३९. यू. ए.	यूरोप एण्ड एशिया	मेरिडिथ संस्करण-१९०१
४०. रा.शा.	राजनीति शास्त्र	अनु-नरोत्तम भार्गव इण्डिया पब्लिशिंग हाऊस १९५३
४१. रा.दा.सि.	राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्त	ग्रीन टामस हिल अनु. डा. ब्रजमोहनशर्मा हिन्दी समिति सूचना विभाग उ.प्र.१९६६
४२. रा. वि.सि.	राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त	पुखराज जैन साहित्य अवन, आगरा १९६६
४३. स.वि.मू.त.	राजनीति विज्ञान के मूल तत्व	डा. जी. डी. तिवारी, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ
४४. वा.रा.रा.वि.	वाल्मीकि रामायण में राजनीतिक विचार	प्रभाकर दीक्षित, परिमल पब्लिकेशन दिल्ली-१९९१
४५. वि.आ.इ.	विजन आफ इण्डिया	सिडनीलो द्वितीय संस्करण १९०७
४६. वे.का.रा.व्य.	वेदकालीन राज व्यवस्था	श्यामलाल पाण्डेय, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला लखनऊ प्र. सं.
४७. वै.सा.सं.द.	वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन	डा. विश्वम्भरदयाल अवस्थी इलाहाबाद -१९८३
४८. सं.सा.रा.भा.	संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना	डा. हरिनारायण दीक्षित देववाणी परिषद्- दिल्ली

४९. स.शा.	समाज शास्त्र	जी.के. अग्रवाल साहित्य भवन-आगरा-१९७७
५०. हि.ह्यू.मै.	हिस्ट्री आफह्यूमन मैरिज, जिल्द (३)	वेस्टर मार्क सं. १९२१
५१. हि.ट्रा.का.	हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट	शेरिंग जिल्द-३
५२. हि.स.	हिन्दू सभ्यता	श्री वासुदेव शरण अग्राल राजकमल प्रकाशन १९६६
५३. हि.रा.शा.	हिन्दू राज्य शास्त्र	अम्बिका प्रसाद बाजपेई हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग-१९८४ वि.
५४. हि.सो.आ.	हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन	श्री पी.एन. प्रभु
५५. हि.पु.स.	हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	वेणी प्रसाद, प्रयाग-१९३१
५६. हि.रा.त.	हिन्दू राजतन्त्र	डा. काशीप्रसाद जायसवाल नगरी प्रचारिणी सभा
५७. हि. मै.	हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन	सर गुरुदास वनर्जी, पंचम संस्करण १९२३
५८. ह्वेन.	ह्वेनसांग का भारत भ्रमण	अनु. ठाकुर प्रसाद शर्मा, प्रयाग-१९२९

अंग्रेजी के ग्रन्थ-

1. C.W.S.V.	TheComplete Works of Swami vivekanand	गायावती मेमोरियल संस्करण-भाग- १९४०
2. C.H.Vol I	The combridge history of india Vol. I	Combridge 1922
3. F.P.S.O.	Fundamentals of Political Seience and organnisation	Mr. G.M.H. Singh, kitkb Mahal allahbad-1966
4. H.F.	Hamilton and Falconers	Transtation of Strabos Geoqraphy Strabos
5. H.P.	Hindu Polity	K.P. Jayasawal Banqlore Publishing Co.Ltd.-1955
6. I.b.i.W.W.	Intercourse Between india and the Western World	H.G. rawlinson Cambridge-1916
7. I.H.U.	The ideal of Human Unitly	श्री अरविन्द श्री अरविन्दाश्रम पांडिचेरी-१९५०
8. I.S.J.H.	Important Speeches of Jawaharlal Nehru	सं. एस. ब्राइट, द इण्डिया प्रिटिंग वर्क्स-१९४५
9. I.L.	International Law	Philmor, Bombay
10. J.R.A.S. (1915)	Janral of the royal Asiatic Soeicly of India (Great briain)	Thomas 1915
11. M.C.P.	Monifesto of Commuist Party Chapler 11.	K. Marx2 Enqels Moscow-1948
12. O.I.H.P.	On india and Her Problems	स्वामी विवेकानन्द अद्वैत आश्रम अलमोंड़ा १९४६
13. P.T.A.I.	Political Theory in Ancient india	JohnW. Spellman
14. P.I.T.H.	The Political insiltulitions and Theories of Hindu	B.K. Sarkar
15. P.H.I.	Prehistoric india	London-1950
16- P.I.I.M.	Political ideas and institutions in th Mahabhart	Brajdeo prasad Calcutta-1975
17. P.P.S.	Pricipal of political Seience	R.N. Gulehrisr, Bombay 1957

18. P.S.G.	Poltical Scince and Government	J.W. Garner, Newyork-1935
19. R.P.	The Ramayan Polity	P.C. Dharma The Madarass Lwa press-1941
20. Rep.	The Republic	Plato, Tr.H.D.P. Lee, Penguin Books, Great Bretain-1972
21. S.G.A.I.	State and Government in Ancieant India	A.S. Aletekar Motilal Banarsi das 1962
22. S.A.H.P.	Some Aspect of hindu Polity	B.R. Bhandar Kar, Benaras 1929
23. S.A.A.I.C.	Some Aspects of Ancient indian culture	Bhandar kar, Baransi
24. S.P.	Schoff-Periplus	London-1912
25. T.F.P.	A Theory of Foreign Policy	George Modelaxy, London 1962
26. The prince	The prince	Niccolo Machiavelli, Tr. George Bull, Penguin Books 1971
27. T.G.A.I.	Theory of government in Ancient India	Sri Beni prasad, General Book Depot Allahbad Second Edition
28. वा. (W)	Thomos on yuan chwanq's Travels in india, Vol I 2 II	T. watters